रमेशचन्द्र शाह के उपन्यासों में धार्मिक एवं ऐतिहासिक वर्णन

5.1 धर्म का परिचय

भारत धर्मप्राण देश है। किन्तु धर्म की श्रेष्ठता का कारण लिखते हुए वेद में कहा गया है कि धर्म सम्पूर्ण विश्व की प्रतिष्ठा है। धर्म में ही सब कुछ प्रतिष्ठित है यहाँ धर्म अपौरुषेय है किसी पुरूष विशेष में इसका निर्माण नहीं किया है। यही इसके सनातनत्व, उदात्व और उदानत्व का कारण है आज के भौतिक–वादी युग में धर्म पर एक नैतिक संकट आया हुआ है। वैयक्तिक पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में सर्वत्र पतन ही दिखायी देता है। राजव्यवस्था, कानून तथा सामाजिक न्याय व्यवस्थाओं तथा राजनीति में अनीति और अवज्ञा घुस गए हैं। सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन में अपराधी व्यक्तियों का प्रवेश चिन्ता का विषय बन गया है।

इन सबका कारण, इन व्यवस्थाओं के संचालक तत्व धर्म का लोक जीवन में अभाव है। धर्म से विरक्त होने के कारण ही आज यह अवस्था है। धर्म व्यक्ति एवं समाज को नियन्त्रित और संयतित करता है। धर्म लोक रक्षण करता है एवं उन्नति का आधार है। लोक जीवन का अभ्युदय धर्म से ही सम्भव है। धर्म हमारे दैनिक जीवन में व्यवहार एवं प्रयोग की वस्तु हैं। सदाचार ही चरित्र का आधार है, और वह धर्म के अवलम्बन के बिना कदापि नहीं हो सकता।

आजकल धर्म के नाम पर बहुत से मतानुचार प्रचलित हैं व्यक्ति परिस्थिति, वातावरण, या बुध्दि विवेक से किसी मत को धर्म समझ बैठता है। मत धर्म नहीं होता धर्म तो वे हैं, जो विश्व जननी है, सर्वोपकारी है। धर्म को आज लोग संकुचित अर्थों में ग्रहण करते हैं। इससे यह संकट उपस्थित होता है कि शासन किस धर्म को माने या किस धर्म से नियन्त्रित हो हिन्दू धर्मशास्त्र सर्वधर्म संभव पर जोर देते हैं। भारतीय तत्ववेत्ता ऋषियों ने 'वसुधैव कुटुम्बकं' की बात कही है, इससे बढ़कर 'सर्व धर्म समभाव' का और कोई दूसरा उदाहरण नहीं। मनुष्य सब विषयों में परमानद प्राप्त कर कृतार्थ हो सकता हैं। शास्त्रों के आनुसार राजनीति भगवान विष्णु की पालिनी शक्ति हैं। अर्थात ग्रन्थों में धर्म और राजनीति की एक ही परिभाषा की गयी है। अतएवं धर्म को राजनीति से अलग किया ही नहीं सकता

है, शब्द प्रमाण के विषय में आस्तिक और नास्तिक दर्शनों भें बड़ा विवाद है। आजकल के इस यान्त्रिक युग मे धर्म में किसी की रुचि नहीं रह गयी हैं। किन्तु आगामी कल भी इसी तरह का होगा यह कोई निश्चित रूप में नहीं कह सकता है। कालचक्र घूमता रहता हैं। फिर ऐसा समय आ सकता हैं, जिसमें निरन्तर धर्म और संस्कृति का सुन्दर समन्वय हो। भारतीय राजनीति में सदा से ही समाज को सर्वप्रथम माना जाता है। और उसमें धर्म का समन्वय रहा है। शासक धर्म एवं समाज के प्रति उत्तदायी है। शासन बदलते हैं पर समाज और धर्म नहीं बदलते। आर्य संस्कृति का मूल मन्त्र धर्म है। हमारे जीवन का कौन सा ऐसा कोना है जिस पर धर्म का प्रभाव साक्षात या परम्परया नहीं पड़ा। धर्म और संस्कृति भारतीयों के वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रिय जीवन में पूर्णरूपेण प्रतिबिम्बित होता है। हम धर्म का पालन किसी उद्देश्य से प्रणोदित होकर अथवा व्यावहारिक या राजनीतिक क्षेत्र से लाभ उठाने केलिए नहीं करते हैं अपितु धर्म हमारे जीवन के सर्वाग में रचा बसा है उसे कहीं से भी पृथक् नहीं किया जा सकता है।

धर्म और संस्कृति मनुष्य के अन्दर एक ऐसी प्रेरणाभावना प्रवृत्ति एवं विधि व्यवस्था है, जिसका लक्ष्य स्पष्ट रूप में भगवान् ही है। जबकी मनुष्य की अन्य सभी प्रवृत्तियाँ परोक्ष रूप में ही उन्हें अपना लक्ष्य बनाती प्रतीत होती है और जगत की बाह्य एवं अपूर्ण प्रतीतियों के पीछे चिरकाल तक भटक–भटक कर ठोकर खाने के बाद ही कहीं उन तक पहुँच पाती है। इस प्रकार आदर्श व्यक्ति तथा आदर्श समाज का विकास करने और मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को भगवान में ऊँचा उठा ले जाने का ठीक मार्ग यही प्रतीत होगा कि समस्त जीवन को धर्ममय बनाकर सब कामकाज धार्मिक भावना के अनुसार चलाया जाय। मानव के साथ धर्म का अविच्छेद्य सम्बन्ध है इसलिए मानवता का चरम लक्ष्य धर्म पालन ही होना चाहिए। धर्म और संस्कृति का पालन उत्कर्ष का हेतु है। मानव के जिस कर्तव्य पालन में मानवता की रक्षा और विश्व का कल्याण संनिहित है, उस कर्तव्य को धर्म तथा उससे विपरीत को अधर्म कहा जाता है किन्तु धर्म–अधर्म के निर्णय में व्यक्ति प्रमाण नहीं अपितु श्रुति प्रमाण है शास्त्र प्रमाण है। आप्त वचन प्रमाण है।

5.1.1 धर्म शब्द और परिभाषा

भारत की परिस्थितियाँ, समस्याएँ, सभ्यता और संस्कृति पश्चिमी देशों से भिन्न है। इसलिए पश्चिमी विचारधारा यहाँ कभी पुष्पित पल्लवित नहीं हो सकती। भारतीय मनीषा के विचार अत्यन्त उदात्त थे। जीवन दर्शन का कोई ऐसा नहीं है, जिस पर यहाँ विचार न प्रकट किया गया हो। इसी प्रकार शासन व्यवस्था एवं राजदर्शन का विस्तृत विवेचन यहाँ किया गया है। शास्त्रों के अनुसार राजनीति भगवान् विष्णु की पालिनी शक्ति है। आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता इसके दण्ड विधान हैं। कामन्दक नीति, शुक्रनीति, बृहस्पतिनीति इसके नीति ग्रन्थ है। महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म ने सम्पूर्ण राजदर्शन का बड़ा ही विशद् एवं शास्त्रपरक विवेचन किया है। जहाँ सृष्टि एवं उसके पश्चात् राज्य की उत्पत्ति एवं पुनः धर्मराज्य की स्थापना तथा धर्मराज्य के गुणों एवं अच्छाइयों का विस्तृत वर्णन है।

भारतवर्ष में धर्म और राजनीति एक दूसरे से कभी पृथक नहीं थे। राजनीति सदैव धर्म से प्रभावित रही है। साधु सन्त महात्मा इसके उपदेष्टा थे। आदि कवि वाल्मीकि ने धर्मयुद्ध राजनीति का चित्रण किया है। प्राचीन भारत में धर्मयुद्ध राजनीति का प्रधान कारण था धर्मशास्त्र का उद्देश्य। जहाँ राज्य की उत्पत्ति का एक सम्यक् प्रकार से करता रहे, जगत में धर्म संकरता, वर्ण संकरता उत्पन्न न हो पाए, बस यही राज्य का एक मात्र कर्तव्य बताया गया है। इसलिए प्राचीन राजशास्त्र धर्म को अधीन माना गया है। प्राचीन भारत में राजशास्त्र के अन्तर्गत उसकी समस्त क्रिया धर्म से प्रभावित थी। इस दृष्टि से प्राचीन राजशास्त्र धर्मानुप्राणित है।

धर्म की परिभाषा

1. ध्रियतें लोकः अनेन इति धर्मः जिससे लोक धारण किया जाय वह धर्म है।
2. धरति धारयति वा लोकम् इति धर्म' : जो लोक का धारण करे वह धर्म है।
3. तीसरा 'ध्रियतें यः स धर्मः' जो दूसरों से धारण किया जाय वह धर्म है महाभारत के अनुसार धारण करने के कारण ही इसे धर्म कहा जाता है। धर्म प्रजा को धारण करता है, जो धारण के साथ रहे, वह धर्म है, ऐसा निश्चय है। जो अशान्त एवं

दुखी संसार का शमन् करे अर्थात् शान्ति प्रदान करे उसका नाम धर्म है। (धिन्वताध्दर्मः)

धर्म बहुत व्यापक शब्द है। "अमरकोष के अनुसार धर्म शब्द के अनेक अर्थ हैं, यथा सुकृत या पुण्य, वैदिक विधि–यागादि, यमराज, न्याय, स्वभाव, आचार, सोमरस को पीने वाला"।...1 अन्य कोषों में धर्म के अर्थ मिलते हैं– शास्त्रोक्त कर्म के अनुष्ठान से उत्पन्न होने वाले भावी फल का साधन स्वरूप शुभ अदृष्ट था पुष्यापुण्य– रूप भाय, श्रौत और स्माते धर्म, विहित क्रिया से सिध्द होने वाला गुण या कर्म अन्य अदृष्ट, आत्म, देह, को धारण करने से जीवात्मा, आचार या सदाचार, वस्त्र का गुण, स्वभाव, उपमा, योग आदी अहिंसा, न्याय, उपनिषद् धर्मराज या यमराज, सोमाध्यायी सत्संग, धनुष, ज्यौतिष मत में लग्न सें नवम् स्थान या भाग्य भवन, दान आदि। किन्तु धर्म शब्द् का धातुगत अर्थ तो 'धारण करना' ही होता है। निरूक्त में धर्म शब्द का अर्थ 'नियम' बताया गया है। इन दोनों के मेल से 'धर्म ' शब्द का यही वास्तविक अर्थ होता है कि जिस नियम ने इस लोक या संसार को धारण कर रखा है वही धर्म है। (धर्मेण धार्यत लोकः)

1. वेद कहते हैं, कि धर्म से सुख मिलता हैं। लोक में भी प्रचलित है कि धन सें धर्म होता हैं, तथा धर्मों से सुख मिलता है।
2. यह सुख दो प्रकार का बताया गया हैं। एक तो इहलौकिक और दूसरा पारलौकिक। इसलिए जिससे इन दोनों प्रकार के सुखों की प्राप्ति हो, वह धर्म हैं। सभी लोग सुख के लिए ही प्रयत्न करते हैं। उसका साधन धर्म हैं।
   - ♦ धर्मण धार्यते लोकः ।। चाणक्य नीतिसूत्र
   - ♦ धानाध्दर्म ततः सुखमू ।।

इसलिए वैश्विक दर्शन के प्रणीता महर्षि कणाद ने धर्म की परिभाषा इस प्रकार की है 'जिससे इस लोक में उन्नति और परलोक में कल्याण या मोक्ष की प्राप्ति हो, वह धर्म है।'

3. इस धर्म का मूल वेद है।
4. अर्थात् समस्त वेद ऋकू, यजुः, साम, और अथर्ववेद धर्म का मूल हैं।

इस धर्म से ही सूर्य में तपन है धर्म से ही वायु बहती है। सब कुछ धर्म में ही प्रतिष्ठित हैं।

5. इस धर्म श्रीमद्भागवत के अनुसार 'वेद में कहा हुआ धर्म है और उससें विपरीत अधर्म हैं।
6. वेद में जिसकी प्रेरणा की गयी हैं, वह पदार्थ धर्म हैं। मतलब वेद निरूपित कर्म करना धर्म हैं। उसमें निषेध किए हुए कर्म का न करना भी धर्म का एक अन्य लक्षण हैं। जों वेद में कहा गया है, वह धर्म हैं।

   ♦ यतोडभ्युदय निःश्रेयसूसिध्दि : सधर्म : ।। शबर भाष्य

   ♦ वेदोडखिलों धर्म मूलमू ।। मनुस्मृति

   ♦ धर्मेण घार्यते पृथ्वी धर्मण तपतें रविः ।
   धर्मेण वहति वायुः सवेधर्म प्रतिष्ठितमू ।। महाभारत ।।

   ♦ वेद प्रणिहितों धर्माहयधर्मस्तद्रिपयेयः ।। श्रीमद्भागक्त

5.2 धर्म और राजनीति एवं धर्म और सत्य

पारस्परिक सन्निकर्ष और सम्बन्ध का इच्छुक है। वैयक्तिक जीवन धारण की वृत्ति जिस प्रकार उसमें निसर्गिक है। उसी प्रकार सामूहिक पूगमय और व्रातमय जीवन यापन की भावना भी उसमें स्वभावतः नियत और सहज है इतिहास, समाजशास्त्र, तथा अर्थशास्त्र से प्राप्त ज्ञान के आधार पर ही वैसा राजनीति शास्त्र प्रणीत हो सकता है। जो राज्य की परिपूर्णता और परिपक्वता का दर्शन उपस्थित कर सके सभी जगत् में धर्म के सम्बन्ध में नाना प्रकार के विचार और वितर्क पले आ रहे हैं। हमारा विचार और वितर्क पले आ रहे हैं। हमारा विचार है कि 'हम क्या हैं'? संसार क्या है? और हमारे इस संसार से क्या सम्बन्ध हैं? इन्हीं तीन जिज्ञासाओं या प्रश्नों ने दर्शनिकों (Philosophers) को जन्म दिया है।

धर्म आत्मा की भूख का भोजन है। बिना भोजन के काम चल नहीं सकता यहीं कारण हैं कि किसी न किसी धर्म की और सदा कारण जनता की प्रवृत्ति होती चली आयी है। धर्म के न मानने वाले लोगों को लोगों ने कभी भी आदर की दृष्टि से नहीं देखा है।

वेदादि शास्त्रों में दो प्रकार हैं। प्रवृत्ति नित्ति के धर्मों का उपदेश किया गया है। धर्म, उनमें एक है। प्रवत्ति धर्म, और दूसरा है निवृत्ति धर्म। निवृत्ति धर्म ज्ञान मार्ग केलिए कहा

गया है। प्रवृत्ति धर्म को जीवन और दुनिया की बातों के विषय में कहा गया हैं। जो संसार दुनिया में है, उनकी ठीक तौर पर हरेक काम करने के तरीका प्रवृत्ति धर्म बताता है। धर्म और राजनीति के अन्तः सम्बन्धों को इन्हीं के अन्तर्गत देखा जाता है। तात्पर्य है कि प्रवृत्ति वासना इच्छा आशा, अभिलाषा कलुषित जीव केलिए आवश्यक हैं और इसी वासना से धर्म मुक्ति दिलाता है।

भारतीय विचारधारा में असलीयता सत्ता की श्रेणी से अगली श्रेणी में धर्म की भावना का ही अत्यन्त महत्व है। यही कारण है कि पुरूषार्थ चतुष्टय में धर्म का स्थान सर्वोपरि है सथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इसमें प्रथम तीन पुरूषार्थ इस लोक से किन्तु, चौथा परलोक से सम्बन्धित है। "इसके अनुसार मानव धर्मपूर्वक अर्थ और काम का सेवन करता हुआ मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इसलिए भगवान श्री कृष्ण ने गीता में कहा है कि अर्जुन! प्राणियों में धर्मानुकूल 'काम' भी मैं ही हूँ, इसलिए धर्म मानव जीवन का सार हैं" ।....2

5.2.1 धर्म और मनुष्य का स्वभाव

धर्म की उत्पत्ति सत्य से होती है। दया और दान से वह बढ़ता है, क्षमा में वह निवास करता है और क्रोध से उसका नाश होता है। मनुस्मृति में धर्म का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि वेद स्मृति, या धर्मशास्त्र, सदाचार या सत्पुरूषों का आचारण और अपनी आत्मा की प्रसन्नता यह चार प्रकार धर्म के लक्षण हैं। श्रुति और स्मृति में जो कहा गया है, वह धर्म कहलाता है। श्रुति और स्मृति में कहे हुए धर्म को करता हुआ मनुष्य इस लोक में यश पाता है और मरकर परलोक में उत्तम सुख या मोक्ष को प्राप्त होता हैं। श्रुति और स्मृति में वर्णित सदाचार ही परम् धर्म है। इसलिए अपनी आत्मा को जानने वाला (आत्मज्ञानी) द्रिवज सदा सदाचार से युक्त रहे।

धर्म शब्द के पूर्व 'स्व' जोड़ने से 'स्वधर्म' शब्द बनता हैं, जिसका अर्थ अपना धर्म (वर्णाश्रम धर्म) होता है। इसी के पहले 'पर' जोड़ने से 'परधर्म' शब्द बनता है। जिसका तात्पर्य अपने (वर्णाश्रम) धर्म को छोड़कर दूसरे के (वर्णाश्रम) धर्म से है। उसी के पहले 'वि' उपसर्ग लगाने से 'विधर्म' शब्द बनता है। जिसका अर्थ 'विगतः धर्मेण विधर्मः होता है अर्थात् अपने धर्म से गिर जाय अथवा धर्मान्तरित हो जाय वह विधर्म है। अतः अपने धर्म

को छोड़कर अन्य धर्म को स्वीकार करने वाला विधर्मी कहा जाता है। उसी के पहले 'कु' उपसर्ग लगाने से 'कुधर्म' शब्द बनता है। उसका अर्थ 'कुत्सितः धर्मः कुधर्मः अर्थात् जो धर्म निन्दा के योग्य हो, वह कुधर्म है। कुधर्म पापाचरण या बुरे आचारण को कहते हैं। 'कुधर्म 'शब्द का एक अर्थ और भी होता है। वह यह कि जो धर्म अन्य धर्म में बाधा पहुँचाए वह कुधर्म कहलाता है। धर्म के पहले 'न' जोड़ने से 'न धर्मः अधर्मः' अधर्म शब्द बनता है। उसका अर्थ जो धर्म से बिल्कुल विपरीत हो, वह अधर्म कहलाता है। इस अधर्म के पाँच भेद हैं। विधर्म, परधर्म, धर्माभास, उपधर्म, और छलधर्म। इनमें से 'विधर्म' और 'परधर्म' की विवेचना ऊपर की जा चुकी है। अपने ही कान से किसी काम को धर्म कहकर करना 'धर्माभास' है प्रचलित अर्थ को छोड़कर दूसरें प्रकार का अर्थ करके जिस धर्म की व्याख्या की जाय वह छलधर्म है। गीता में स्वधर्म पालन पर बल दिया गया हैं। गीता में कहा गया है कि धर्म से रोग नष्ट होते हैं। धर्म से ग्रहों की पीड़ा मिटती है। धर्म से शत्रुनाश होता हैं। इसलिए जहाँ धर्म होता है। वहीं जय होती है। महाभारत में कहा गया हैं की जहाँ धर्म है, वहीं कृष्ण हैं, जहाँ कृष्ण हैं वहीं जय हैं। धर्म उन कर्तव्यों का समूह हैं जिनका निरन्तर पालन करने से व्यक्ति और समाज की उत्तरोत्तर वृध्दि होती रहती है। धर्म के मुख्य तत्व परोपकार और भक्तिअ हैं जो दूसरे का हित करता है वह सच्चा धार्मिक है।

संसार में पदार्थ का स्वरूप कर्मात्मक है। पदार्थ के स्वरूपों की निष्पत्ति कर्म से है। कर्म ही पदार्थों के स्वरूपों को धारण कर रहा है, बनाए हुए है। जो धारण करता है, स्वरूप निष्पन्न करता है अथवा जिससे स्वरूप पहचानने में आता है उसका नाम धर्म है। कर्म ही धारण करता है, कर्म ही निष्पन्न करता है, कर्म पदार्थ मात्र धर्म है। धर्म वहीं पदार्थ है जिस पदार्थ में एक कर्म पर दूसरे कर्म की चुनाई हुई है। जिस पदार्थ में कर्म की चिति नहीं है, अर्थात् जिस पदार्थ का स्वरूप पूर्व कर्म पर उत्तर कर्म की चिति से निष्पन्न नहीं हुआ वह पदार्थ धर्म नहीं है। वह तो धर्मी है। धर्म, धर्म को नहीं पकड़ता धर्मी धर्म को पकड़ता है। धर्म पर धर्म नहीं रहता, धर्मी पर धर्म रहता है। धर्मी वही हैं, जो सब धर्मी का आश्रय है, जिसमें कोई भी धर्म टिक सकता है। धर्मी धर्म का आश्रय देकर धर्म के स्वरूप को प्रकट करता है। इसलिए धर्म जानने का विषय हैं, धर्मी नहीं।

"धर्म अर्थात मर्यादा Boundary limitation, सीमा, नियम, नियमक्षेत्र। धर्म छन्द है, मनुष्य को छन्दित करता है, स्वच्छन्द या अच्छन्द नहीं रहने देता। छन्द का अर्थ होता है सोम। किसा फल या उद्देश्य को लेकर मनुष्य के क्रियाकलाप का एक स्वरूप बनता है" ।....3

5.3 भारत और विश्व धर्म की तुलना

किसी भी राष्ट्र का अस्तित्व उसकी संस्कृति के कारण ही बना रह सकता है। इसी कारण शताब्दियों से ऋषियों महर्षियों ने इसके रक्षण, परिरक्षण और संरक्षण पर जोर दिया था। संस्कृति के उदयास्त से ही राष्ट्र का उदयास्त होता है। इसलिए संस्कृति मानव की जीवन शक्ति, प्रगतिशील साधनाओं की विमल–विभूति, राष्ट्रीय आदर्श की गौरवमयी मर्यादा और स्वतन्त्रता की वास्तविक प्रतिष्ठा है। इस तथ्य का चिन्तन करते हुए भारतीय परम्परा ने सदा संस्कृति–निष्ठा के मंगलमय मार्ग को अपनाया। भारतीय परम्परा में सनातन संस्कृति की मान्यता है। यह सनातन संस्कृति इतर सभी संस्कृतियों से श्रेष्ठ है तथा अनादि और अनंत भी है। दूसरी संस्कृतियाँ सनातन संस्कृति का अंश लेकर ही जीवित है। संस्कृति शब्द को अंग्रेजी के कल्वर शब्द का पर्याय माना जाता है। लैटिन अंग्रेजी डिक्सनरी में कल्वर की उत्पत्ति 'कैल्टस' से बतायी गयी है। जिसका अर्थ होता है 'कृषि।' सम्भवतः इसी बात को ध्यान में रखते हुए बाबू सम्पूर्णानन्द ने कहा था कि 'एक ही जलवायु में पले, एक ही प्रकार के गिरि, निर्झर, नदी सागर को देखने वाले, एक ही प्रकार के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक सुख–दुःख को भोगे हुए लोगों के चित्तों का झुकाव प्रायः एक सा होता है और यही उन लोगों के निर्माण में सहायक होती है।'' किन्तु अंग्रेजी का कल्वर शब्द संस्कृति का ठीक प्रकार से समानार्थी नहीं हैं। श्री चक्रवर्ती राज–गोपालाचारी ने संस्कृति पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि 'किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के शिष्ट पुरुषों में विचारवाणी एवं क्रिया का जो रूप व्याप्त रहता है उसी का नाम संस्कृति है। धर्मसम्राट स्वामी करपात्री जी महाराज के अनुसार 'लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, अभ्युदय के उपयुक्त देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादि की भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ एवं हलचलें ही संस्कृति है ।

श्री शिवशरण जी के अनुसार संस्कृति शब्द का लक्ष्यार्थ, धर्म विद्या आदि की उन्नति है, परन्तु वाक्यार्थ संस्कृत शुद्ध करने की क्रिया है। इस प्रकार किसी स्थूल धातु से सूक्ष्म तत्व निकालने की क्रिया का नाम संस्कृति है। एक–हरी मिट्टी को संस्कृत करने से भास्वत् ताम्र मिल जाता है। वैसे ही मनुष्य जाति के स्थूल धातु से संस्कृति द्वारा उत्तम मानसिक एवं सामाजिक गुण प्रादुर्भूत होते हैं। संस्कृति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, इसलिए इसको परिभाषा में बाँधना अत्यन्त दुष्कर कार्य है किन्तु विद्वानों ने समय–समय पर इस पर अपने विचार प्रकट किए हैं।

१. स्वामी करपात्री जी और उनका राजनीतिक दर्शन – डॉ. रामजी मिश्र पृष्ठ ४१

२. विचार पीयूष – धर्मसंघ दुर्गाकुण्ड वाराणसी द्वारा प्रकाशित लेखक धर्म सम्राट स्वामी करपात्री – जी महाराज

हॉ. राधाकृष्णन के अनुसार– "संस्कृति विवेक बुद्धि का, जीवन को भली प्रकार जान लेने का नाम है।'' आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृति को इस प्रकार परिभाषित किया है ''संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है।'' एक अन्य लेखक का कथन है कि जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गयी हैं उनसे अपने आपको परिचित करना ही संस्कृति है। एक अन्य परिभाषा में कहा गया है कि ''संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण दृढ़ीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है। यह मन आचार अथवा रूढ़ियों की परिष्कृति या शुद्धि है। यह सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना है।''

संस्कृति मानव मात्र की वस्तु है लेकिन अपने विशेष दृष्टिकोण, सभ्यता, धर्म, आदर्श और आचार–विचारों के कारण प्रत्येक देश तथा जाति की संस्कृति दूसरे देश और जाति की संस्कृति से भिन्न हो जाती है। इसलिए कहा जा सकता है कि प्राकृतिक विधान के अनुरूप संस्कार की हुई पद्धति ही संस्कृति है और उसी संस्कृति के एक अंश को सभ्यता कहते हैं। जब हम भारतीय संस्कृति की बात करते हैं तो उससे हमारा अभिप्राय हिन्दू संस्कृति से ही है। जो कि शुद्ध और शाश्वत है। जबकि संसार की अन्य समस्त जातियाँ अपनी मूल संस्कृति को खोकर विजातीय संस्कृति को ग्रहण किए हुए हैं, कितनी ही

संस्कृतियाँ जो उस समय उन्नत थीं काल के गर्त में समा गयी आज उनका कोई नाम लेने वाला भी नहीं है किन्तु हिन्दू जाति के पास संसार की सर्वोच्च संस्कृति विद्यमान है, जिस (संस्कृति–रूपी अमृत का पानकर हिन्दू लोग अपनी सुदीर्घ परम्परा को अक्षुण्ण रखकर भारत को जगद्गुरु की महनीय उपधि से मण्डित करा सके। और इसी संस्कृति की बदौलत आज तक हम अपनी हस्ती को बनाए रखने में सफल हुए हैं। तभी तो इकबाल ने लिखा है कि :

''यूनान मिस्र रोमा सब मिट गए जहाँ से,
बाकी बचा है अब तक नामों निशा हमारा।
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन दौरे जहाँ हमारा।।''

संस्कृति, संस्कृत भाषा का शब्द है। अतएव संस्कृत व्याकरण में व्युत्पत्ति की दृष्टि से संस्कृति शब्द 'सम' पूर्वक 'कृ' धातु से 'क्ति' प्रत्यय करने पर बनता है। जिसका अर्थ होता है 'परंपरागत अनुस्यूत संस्कार।' सामाजिक जीवन में व्याप्त परम्परागत संस्कारों के रूप को हम संस्कृति के नाम से जानते हैं। हलायुध कोष के अनुसार संस्कृति का सम्बन्ध संस्कार से है। 'संस्कार' की व्युत्पत्ति 'सम' पूर्वक 'कृ' धातु में घञ प्रत्यय लगाकर 'सम परिभ्यां करोते भूषणे इति सूट' इस प्रकार बतायी गयी है। अर्थात् 'सम्यक् संस्कार को ही संस्कृति कहा जाता है।' संस्कार तीन प्रकार का होता है। पहला है दोषमार्जन–संस्कार दूसरा हीनागपूर्ति–संस्कार और तीसरा है अतिशयाधान–संस्कार। यव, धान आदि अन्न को उसकी भूसी (कँटीली पर्त) से अलग करना दोष मार्जन 'संस्कार कहलाता है। उस परिमार्जित अन्न को भोज्य बनाने के लिए उसे आग पर पकाना हीनागपूर्ति 'है और पक्वाना को सुस्वादु बनाने के लिए उसमें मिर्च मसाले आदि मिलाना 'अतिशयाधान' है। जिससे मूल अन्न में कुछ अतिशय अर्थात् वैशिष्ट्य का आधान किया जाता है। इन तीनों क्रियाओं के पश्चात् वह अन्न वलवर्धक भोज्य बनता है। संस्कृति इन तीनों प्रकार संस्कारों का विकसित स्वरूप है। संस्कारों से आत्मा या अन्तःकरण शुद्ध होता है। इसलिए उत्तम और निकृष्ट संस्कार, इस रूप से संस्कारों में उत्कृष्टता या निष्कृष्टता का भी व्यवहार

होता है। षोडश एवं अष्टचत्वारिंशत् संस्कारों द्वारा आत्मा अथवा अन्तःकरण को संस्कृत करना चाहिए।

संस्कृति और सभ्यता – संस्कृति और सभ्यता में कोई मूलभुत अन्तर नहीं है। जीवन की मूल प्रेरणाएँ प्रायः अशोभन तथा अशिव सिद्ध होती हैं। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप उनके स्वभाव तथा स्वरूप में कुछ अतिशय 'का प्रवेश हो जाता है और वही' अतिशय 'जीवन को सृष्ठि एवं साधु बनाता है। ये संस्कार ही संस्कृति को जन्म देते हैं जो ज्ञान तथा सभ्यता के आविर्भाव के अनंतर संस्थागत स्वरूप को ग्रहण करती है। इस प्रकार सम्यक् कृति ही संस्कृति है और सभा में साधुता ही सभ्यता है। आचार विचार, रहन–सहन, बोलचाल आदि की सम्यक्ता या साधुता का निर्णय शास्त्र से ही हो सकता है। वेदादि शास्त्र द्वारा निर्णीत सम्यक् एवं साधु चेष्टा ही सभ्यता है और वही संस्कृति भी है। अतएव संस्कृति आभ्यन्तर और सभ्यता बाह्य तत्व है। संस्कृति को अपनाने में देर लगती है, किन्तु सभ्यता की सद्यः नकल की जा सकती है। किसी देशकाल की सभ्यता किसी के लिए अहितकारी भी हो सकती है, किन्तु संस्कृति सर्वदेश, सर्वकाल में सभी के लिए सर्वथा हितकारी ही होती है। संस्कृति नित्य है। उसका निरादर पतन का मूल है, उसका आदर विकास का हेतु है। किसी देश की संस्कृति बनायी नहीं जाती, वह स्वयं बनती है और संस्कृति ही स्वयं राष्ट्र बनाती है। किसी राष्ट्र का निर्माण संस्कृति पर होता है। यदि वह संस्कृति नष्ट हो जाती है तो राष्ट्र भी नष्ट हो जाता है। संस्कृति बहुत कुछ अपरिवर्तनशील रहती है। संस्कृति किसी समुदाय विशेष की मानसिक बनावट है। यह मानसिक वनावर उस समुदाय विशेष की पुरातन व वर्तमान अनुभतियों के संस्कारों के अनुरूप होता है। संस्कृति का मूलाधार भाषा है। यही कारण है विजेता अपनी संस्कृति का प्रचार करने के लिए विजित राष्ट्र की भाषा का समूलोच्छेद कर देता है। संस्कृति विश्वास की वस्तु नहीं होती। मानने न मानने से धर्म की तरह संस्कृति नहीं बदलती। धर्म परिवर्तन भले ही हो जाय किन्तु यह आवश्यक नहीं कि संस्कृति भी बदल जाय।

धर्म और संस्कृति, संस्कृति का सम्बन्ध धार्मिक विश्वासों से है। धर्म और संस्कृति ये परम्परा एक दूसरे का स्पर्श करके चलते हैं। धर्म और संस्कृति में मात्र इतना ही भेद है

कि धर्म केवल शास्त्रैक समधिगम्य है जबकि संस्कृति में शास्त्र से अविरूद्ध लौकिक कर्म भी परिगणित हो सकता है। युद्ध भोजनादि में लौकिकता, अलौकिकता दोनों ही हैं। जितना अंश लोक प्रसिद्ध है, उतना लौकिक है, जितना शास्त्रैक समाधिगम्य है, उतना अलौकिक है। अलौकिक अंश धर्म है, धर्म विरुद्ध लैकिक अंश धर्म्य है। संस्कृति में दोनों का अन्तर्भाव है। संस्कृति रूप भूमि में धर्मरूपी वृक्ष शोभा पाता है। जिस प्रकार वृक्ष में फल, फूल पत्ते शाखा आदि अनेक अंग है उसी प्रकार धर्मरूपी वृक्ष के सभी सम्प्रदाय अंग हैं। सार्वभौम सार्वजनिक साधन का नाम धर्म और व्यक्तिगत साधन का नाम सम्प्रदाय है। संस्कृतियुक्त धर्म ही वास्तव में हिन्दुत्व है, उस हिन्दुत्व को अपनाने वाला हिन्दू है।

मनुष्य जाति का इतिहास समझने के लिए भारत खण्ड एक ही देश है, क्योंकि भारतीय संस्कृति को छोड़कर कोई भी ऐसी दूसरी संस्कृति नहीं हैं, जो मनुष्य की उत्पत्ति के समय से लेकर आज तक अखण्ड धारा से चलती आयी हो। सब धर्मों का आधार सनातन धर्म–भारतीय धर्म ही है। धर्मानुसार समाज के स्वरूप की रक्षा केवल भारत में हुई है। इसीलिए धार्मिक सहिष्णुता यहाँ आज तक सर्वतोभावेन विद्यमान है। भारतीय संस्कृति आध्यात्म प्रधान है आस्तिकता इसका प्रथम साधन है स्वामी विवेकानन्द को इस आध्यात्मिकता पर गर्व है। वे कहते हैं कि भारत राष्ट्र मर नहीं सकता, वह अमर है और तब तक अमर रहेगा जब तक कि यह विचारधारा पृष्ठभूमि के रूप में रहेगी और जब तक उसके लोग आध्यात्मिकता न छोड़ेगे। हिन्दू संस्कृति के अमरत्व का एक मात्र कारण भी यही है क्योंकि उसका मूल अमर है। इस संसार का संचालक नियन्ता एक सर्वव्यापक महत्वशालिनी शक्ति है उसे विभिन्न नामों से लोग पुकारते हैं यही अदृश्य शक्ति ही सदा सर्वदा प्राणियों के कल्याण के लिए जागरूक रहती है। आस्तिकता के लिए आवश्यक है ईश्वर में दृढ़ एवं अटूट विश्वास एवं श्रद्धा लेकिन आज जो आस्तिकता है उसने एक ढोंग का रूप ले रखा है। हृदय से आस्तिकता नहीं है। यदि हृदय साफ हो निर्मल हो और हम पूर्ण आस्तिक हों तो कभी कोई अपराध हो ही नहीं सकता। सदाचरण भारतीय संस्कृति का सोपान है सदाचार की मूल प्रतिष्ठाशील पर निर्भर है। महाभारत में शील निरूपण के सम्बन्ध में एक कथा है कि धृतराष्ट्र ने दुर्योधन से पूछा कि तुम उत्तम सुस्वादु भोजन करते हो, अच्छे घोड़े की सवारी करते हो, उत्तम रेशमी परिधान धारण करते हो किन्तु तुम इतने

कुशकाय पीले क्यों हो? केनासि हरितः कृशः। उत्तर था शील का अभाव। शील है क्या चीज? जिस कार्य को करने से मनुष्य को लज्जित न होना पड़े जिसे चोरी छिपे न करना पड़े जिस करने से व्यक्ति की समाज में प्रतिष्ठा हो दही शील है?। 'यद्यपि कि सन्देहवादी, लोकायित इस सिद्धान्त को नहीं मानते किन्तु उनकी संख्या समाज में अत्यल्प है, अति न्यून है जो उपेक्षणीय भी है।

संस्कृति और समाज एक दूसरे के पूरक हैं। समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था संस्कृति के आधार पर ही हुआ करती है। मर्यादा समाज का एक अनिवार्य गुण है, इसीलिए भारतीय संस्कृति में मर्यादित जीवन को ही श्रेष्ठ माना गया है। इस मर्यादा को बनाए रखने के लिए ही अपने हित के साथ दूसरों के हित सम्वर्द्धन एवं हित संरक्षण पर जोर दिया गया है। हमारी संस्कृति का मंत्र है 'न मुझे स्वर्ग चाहिए, न अपवर्ग चाहिए, मैं तो सभी प्राणियों को सुख शान्त और नीरोग देखना चाहता हूँ। हमारे यहाँ संग्रह की नहीं अपितु त्याग की भावना बलवती रही है। हमारी संस्कृति भोगवादी संस्कृति नहीं है। भारतीय मनीषा के उदात्त विचारभोग एवं त्याग का अद्भुत सामंजस्य करना सिखाते हैं। 'जियो और जीने दो' यहाँ का मूल दर्शन है। स्वयं जीने के लिए यथोचित भोग करो और अन्यों को जीवित रखने के लिए यथोचित त्याग करो। भारतीय संस्कृति आशावादी है। हमारे मनीषियों का कथन है कि 'आशा हि जीव लोकस्य जीवन जगतीतले।' अर्थात् आशा ही संसार में जीवन का आध पार है। इस आशावाद का परिणाम हमारे देश के लिए अधिकांशतः सुखदायी ही रहा है। किन्तु इस आशावाद से अकर्मण्यता और प्रमाद न घर कर जाय इसके लिए अनेकांश व्यवस्थाएं की गयी हैं। कर्म की महत्ता का सिद्धान्त प्रतिपादित कर समाज एवं व्यक्ति को अकर्मण्य होने से बचाया गया है। इस प्रकार विश्वबन्धुत्व और प्राणिमात्र पर प्रेम, नारी जाति का सम्मान, वर्ण व्यवस्था, समन्वय, अहिंसा, उदारता, अनेकता में एकता, भेद में अभेद आदि सद्गुणें का विकास हिन्दू संस्कृति की विशेषताएँ हैं। हिन्दु संस्कृति में मानव मात्र से प्रेम करने की भावना बलवती है, वह समस्त प्राणियों को भगवद् स्वरूप देखने की पक्षपाती है।

भारतीय संस्कृति ग्रहणशील है। प्रत्येक जगह की अच्छी–अच्छी बातों को हमने ग्रहण किया आत्मसात किया। संस्कृति का स्वभाव है कि वह आदान–प्रदान से बढ़ती है।

जब दो देशों या जातियों के लोग परस्पर मिलते हैं तब दोनों की संस्कृतियों एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। इस दृष्टि से भारत में सर्वप्रथम मुस्लिम शासक आए जिनकी अपनी संस्कृति थी और जो इस्लाम के अनुयायी थे। इस्लाम के प्रर्वत्तक पैगम्बर मुहम्मद साहब इस्लाम शब्द अरबी भाषा का एक धातु से बनता है जिसका अर्थ होता है आत्मसमर्पण करना अथवा भगवान के चरणों में अपने आपको सौंप देना। इस धर्म का सिद्धान्त है कि ईश्वर एक है और मुहम्मद साहब उसके पगम्बर है। इधर आद्मी बनकर धरती पर जन्म ले सकता है इस बात में इस्लाम विश्वास नहीं करता। इस्लाम की विशेषता उसकी सादगी है। इसके सिर्फ पांच सिद्धान्त है– 1.कलमा–पढ़ना 2.पांच बार नमाज पढ़ना 4.राजा रखना 5.जकात 6.हज्ज करना। इस प्रकार मुसलमानों के आगमन से दो संस्कृतियों का मेल हुआ यद्यपि कि दोनों संस्कृतियां अलग–अलग हैं और अलग–अलग रहनी भी चाहिए क्योंकि राम भी अच्छे खुदा भी अच्छे किन्तु ''जैरम खुदाई'' ठीक नहीं। मिली जुली खिचड़ी या दोगली संस्कृति कम्पोजिट कल्चर यह ठीक नहीं। संस्कृति को तो शुद्ध विमल एवं निर्मल होना चाहिए। हम लोगों ने परस्पर आदान प्रदान में एक दूसरे से निकटता के कारण एक दुसरे को अच्छी बातों को सीखा व अपनाया है। इस्लाम में मुर्तिपूजा का निषेध है, किन्तु ताजिए निकालना, पीरों व बुजुर्गों की कब्र पूजना प्रकारान्तर से तो मूर्तिपूजा ही है। परदाप्रथा पठानो के भय से हिन्दुओं में चली थी और मुगलों के भय से पठानों में, किन्तु आज यह हिन्दू और मुसलमानों में समान रूप से फैली हुई है और दोनों ही इसको तोड़ना चाहते है। हिन्दुओं की अनेक सामाजिक प्रथाएँ मुसलमानों के यहाँ प्रचलित हैं और मुसलमानों की सामाजिक प्रथाएँ हिन्दुओं के यहाँ। आहार वेशभूषा और रहन सहन में दोनों धर्म के लोगों में समानता दिखाई देती है और दोनों में से चाहे कोई भी भारत से बाहर जाय, वहाँ वह सरलता से पहचान लिया जाता है कि वह भारतीय है।

संगीत में ख्याल मुसलमानों की देन है। वाद्ययन्त्रों में रवाब, दिलरूबा, और सरोद मुसलमानी पसन्द के हैं। इस प्रकार हिन्दुओं और मुसलमानों में कुछ क्षेत्रों में सांस्कृतिक मेल हुआ। मुस्लिम आक्रन्तिाओं के अत्याचारों से त्राण पाने के लिए हिन्दुओं ने अपने को शस्त्र सज्जित किया। जिससे हिन्दुओं में ही एक नई शाखा का प्रादुर्भाव हुआ जिन्हें हम सिख कहते हैं। सिख गुरुओं ने हिन्दुत्व के रक्षणार्थ उनकी चोटी और जनेऊ (यज्ञोपवीत)

की रक्षा के लिए अपने को बलिदान कर दिया। ऐसे समय में हिन्दू और इस्लाम को पारस्परिक निकट लाने में सूफी सन्तों का अविस्मरणीय योगदान रहा। उसी समय देश में निर्गुण, निराकार उपासकों की संख्या में वृद्धि हुई। नानक, कबीर, दादूदयाल सरीखे सन्तों की धारा पुष्ट हुई।

इसके बाद भारत में यूरोपीय जातियों का आगमन हुआ और उनके साथ ईसाइयत ने भी भारत में प्रवेश किया। ईसाइयत के प्रभाव और यूरोपीय संस्कृति से हिन्दु एवं मुसलमान भयभीत से हुए। आधुनिकता और आहार के साथ शिक्षा–दीक्षा भी परिवर्तित होने लगी इस यूरोपीय संस्कृति के मिश्रण से एक नई धारा का अभ्युदय हुआ जिसमें स्वामी रामकृष्ण परमहंस विवेकानन्द सदृश महापुरुष प्रकट हुए। इस प्रकार भारतीय पाश्चात्य संस्कृति के रंग में ढलने लगे। किन्तु इन सब प्रभावों से मुक्त भारतीय संस्कृति ने सबका अपने में एकाकार कर लिया। यह ही इस संस्कृति की विशेषता है। समय–समय पर विजेता लोग अपने साथ विदेशी संस्कृतियों की लहरें ले आए, जो भारतीय संस्कृति के महासागर में विलीन हो गयी। यही नहीं उन्होंने स्वयं अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खोकर भारतीयता के रंग में अपने को रंग लिया। मानव जीवन के इतिहास में प्रचण्ड झंझावात आए युगों में परिवर्तन हुआ, बहुत सी संस्कृतियों में उलटफेर हुआ किन्तु भारतीय संस्कृति सदैव अविच्छिन्न गति से प्रवाहित होती रही है और मनुष्य के एक बड़े समुदाय को अनुप्राणित एवं विकसित करती रही है। इसी सांस्कृतिक सहिष्णुता के कारण इस देश पर आक्रमण करने वाले यवन, शक, हूण, कुशाण आदि जातियाँ भी भारतीय समाज का अंग बन गयीं। इसी विशेषता के ही कारण प्राचीन संस्कृति की परम्परा अक्षुण्ण बनी है।

भारतवर्ष में सांस्कृतिक एकता प्राचीन काल ही रही है। सम्पूर्ण भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का मलिक आधार एक सा ही। सर्वत्र जातिभेद ,वर्णव्यवस्था संस्कार अनुदान आदि समाना में प्रचलित है। अन्य संस्कृतियों विनर होती रही। किन्तु भारतीय संस्कृति अमर है। भारतीय संस्कृति की महत्ता पर विचार करते हुए महात्मा गांधी ने कहा था कि 'दुनिया में किसी संस्कृति का भण्डार इतना भरा पूरा नहीं है जितना कि हमारी संरकृति का है।' हम लोगों ने अभी उसे जाना नहीं है, हम उसके अध्ययन में दर रखे गए हैं। हमें उसे जानने और मानने का अवसर ही नहीं दिया गया, हमने उसके अनुसार चलना

करीब–करीव त्याग दिया है। महात्मा गाँधी की उक्ति कितनी सत्य है। अपनी संस्कृति के सम्बन्ध में अनभिज्ञ हो जाना हमारे राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक व नैतिक पतन का कारण हुआ। अपनी संस्कृति को भूलने, अतीत से सम्बन्ध न रखने पर हमारी यही दशा होती है जिसका वर्णन एक पाश्चात्य दार्शनिक मामलर ने किया है ''हम बढ़ते हैं किन्तु परिपक्वता नहीं आती। हम आगे जाते हैं किन्तु दिशा का ज्ञान नहीं होता है।'' भारतीय संस्कृति अत्यन्त प्राचीन है।

विश्व संस्कृति के आकाश में भारतीय संस्कृति सूर्य के समान दीप्तिमान है और वह जनमानस को नैसर्गिक ही आकृष्ट करती रही है। शताब्दियों का क्रम उसके रूप को थोड़ा बहुत भले ही प्रभावित करता आया हो परन्तु उसके मूलतत्व प्रायः अपरिवर्तित ही हैं। धर्म और संस्कृति के अधीन एकता प्राप्त करने वाले इस देश के धार्मिक व्यक्ति आज भी स्नान के समय भारत की विभिन्न नदियों के नाम साथ लेते हैं। धार्मिक एवं सांस्कृतिक एकता का स्वरूप इस बात से भी परिलक्षित होता है कि सात मोक्षदायिनी नगरियाँ उत्तर और दक्षिण दोनों भागों में अवस्थित हैं और उसके प्रतिदिन लोग उसका स्मरण करते हैं। वास्तव में भारत जैसी प्रतिभा कहीं देखने को नहीं मिलती, अतः भारत में जितने दर्शन पनपे हैं, विश्व की किसी सभ्यता में इतने दर्शन नहीं हैं। भारतीय दर्शन में कुछ वैदिक हैं, और कुछ अवैदिक। दूसरे शब्दों में इन्हें आस्तिक और नास्तिक दर्शन में कहा जाता है। वैदिक परम्परा को मानने वाले विद्वानों ने 'नास्तिको वेदनि न्दकः' कहकर नास्तिक की परिभाषा की है। किन्तु मगर दूसरी तरफ के अनुसार आस्तिक वह है जों आत्मा, धर्म, लोक, परलोक में आस्था रखता है। इस दृष्टि से धर्म आस्तिक दर्शन माने जाते हैं।

5.4 "आखिरीदिन" उपन्यास में धर्म

एक धर्म ही ऐसा मित्र है जो मरने पर जीव के साथ जाता है, और सब तो शरीर को छोड़कर चले जाते हैं। धर्म के तीन स्कन्ध या शाखाएँ हैं। यज्ञ, अध्ययन या स्वाध्याय और दान यह पहला स्कन्ध है। तप दूसरा स्कन्ध है। आचार्यकुल में रहने वाला बह्मचारी जो अपने शरीर को अत्यन्त क्षीण कर लेता है। वह तीसरा स्कन्ध है। ये सभी पुण्य लोक के भागी होती हैं।

ऋग्वेद में धर्म को विश्व का उन्नायक और सम्पोषक माना गया है। अथर्ववेद में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। धर्म के जिज्ञासुओं के लिए श्रुति (वेद) ही प्रमाण है। आर्य धर्म क्या है कि? इस में समाज और धर्म को मिलाकर चलते हैं। दुष्ट को दण्ड देना धर्म है। पर यदि हर व्यक्ति दुष्ट को दण्ड देने का काम अपने हाथ में लेले, तो समाज कहा जाएगा? इसलिए धर्म अन्तः प्रेरणा तथा बुध्दि का विषय है। किन्तु यह कोरी भावुक्ता नहीं है।

धर्म एक भावना मात्र है, जो अपने तथा संसार के बीच एकस्वरता पैदा करने के विश्वास से पैदा हुई है। और धर्म प्रेरित भावना माना है। यहाँ पर धर्म का अर्थ ईश्वर में विश्वास मात्र से है। वास्तव में पाश्चात्य देशों में 'धर्म' शब्द है ही नहीं, वहाँ शब्द रिलिजन प्रयुक्त होता है। अंग्रेजी में जिसे रिलिजन कहते हैं। तथा उर्दू में जिसे मजहब कहते हैं। वह धर्म का समानान्तर नहीं है। धर्म इतनी आसानी से समझ में आने वाली चीज नहीं है। इसलिए पश्चिमी देश के चिन्तन में और हमारें देश के चिन्तन में आकाश–पाताल का अन्तर है।

5.5 'विनायक' उपन्यास में धर्म, राजनीति, और ऐतिहासिक वर्णन

भारत में अंग्रेजी शासन शोषण, साम्राज्यवाद तथा उपनिवेश्वाद पर आधारित था। सन् 1600 में व्यापार के उद्देश्य से स्थापित ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने जब सम्पूर्ण देश पर अपना एकाधिपत्य स्थापित कर लिया तो निरीह भारतीयों पर उसके शोषण का शिकंजा लगातार कसता गया। "इसके परिणाम स्वरूप सन् 1857 का स्वतंत्रता–संग्राम हुआ, जो पारस्परिक फूट, असंगठन, विद्वेष, एक–दूसरे पर अविश्वास एवं असहयोग के कारण असफल रहा, परन्तु इसके परिणामों से प्रेरणा पाकर ब्रिटिश राजनेताओं ने ईस्ट इण्डिया शासन को समाप्त कर भारत को बिटिश साम्राज्य का एक अंग बना लिया"।....4

उन्नीसवीं शताब्दी के विदेशी एवं स्वदेशी लेखकों ने भी अपनी इतिहास सम्बन्धी खोजों द्वारा भारतीयों की राष्ट्रीय–भावना को प्रबल किया। सर विलिम जोन्स, मैक्समूलर, जैकोबी, ए.वी की आदि ने भारतीय एवं संस्कृति की उन्नति के सम्बन्ध में विचार प्रस्तृत करके प्रबुध्द भारतीयों के मनोबल को परोक्ष रूप से ऊँचा उठाया। इसके अतिरिक्त कनिंघम

तथा मार्शल की पुरातत्व सम्बन्धी खोजों ने यह सिध्द कर दिया कि भारत की प्राचीन सभ्यता मध्य एशिया एवं मलाया द्वीप समूह में फैली और इससे इन देशों में रहने वाली जंगली जातियों का विकास हुआ। "इतिहास सम्बन्धी खोजों से भारतीयों में केवल आत्म विश्वास ही उत्पन्न हुआ। अपितु उन्हें अपनी सभ्यता–संस्कृति और देश पर गर्व करना भी सिखाया"।....5 भारत में अंग्रेजी शिक्षा प्रसार यद्यपि अंग्रेजी शासकों के अनुयायियों की ऐसी फौज तैयार करने के लिए किया जो उनके हितों की पोषक हो, परन्तु अंग्रेजी शिक्षा प्रसार से भारतीयों को फ्राँस, जर्मनी, अमेरिका तथा यूनान आदि देशों की राजनीतिक गतिविधियों तथा लोकतन्त्र और वैयक्तिक स्वतन्त्रता के हिमायती पाश्चात्य विद्वानों के विचारों की जानकारी भी मिली। इसके परिणाम स्वरूप भारतीयों में देश–प्रेम, स्वतन्त्रता एवं लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था के प्रति नवीन उत्साह जागृत हुआ। भारत के राजनीतिक वातावरण को परिवर्तित करने में स्वदेशी समाचार पत्रों–अमृत–बाजार पत्रिका, हिन्दू एवं केसरी आदि की भूमिका भी महत्वपूर्ण थी। उन्नीसवीं शताब्दी के तृतीय एवं चतुर्थ चरण में राजनीतिक वातावरण पूर्ण रूपेण अंग्रेजों के पक्ष में रहा। स्थानीय राजा, नवाब, और जमींदार पूर्ण रूपेण अंग्रेजों के पिट्ठू बनकर रह गये। उनका कार्य जनता पर आत्याचार करके अधिकाधिक कर वसूल करना तथा उस पर से एक बड़ी राशि अंग्रेजी सरकार को दे देना था।

उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीयों में अंग्रेजी शासन की नीतियों के प्रति बढ़ते असन्तोष को देखते हुए एक ऐसी संस्था बनाने की आवश्यकता अनुभव की गयी जो भारतीयों के हितों की देखरेख कर सके। इण्डियन सिविल सर्विसेज के एक सेवा–निवृत्त अधिकारी ए. ओ. ह्यूम ने सन् 1884 में कलकत्ता में "इण्डियन नेशनल यूनियन" की स्थापना की जिसकी सदस्यता का आधार आत्म–त्याग एवं निःस्वार्थ–सेवा की भावना थी। इस काल में उदारवादी राष्ट्रीयवादियों का महत्व राजनीतिक–क्षेत्र में कम हो गया और उग्रवादियों का प्रभाव द्रुत–गति से बढ़ता गया। जनसाधारण ने भी उग्रवादियों की राजनीतिक विचारधारा एवं कार्यक्रमों का समर्थन किया और उनकी गतिविधियों में विशेष रुचि ली। भारतीय युवकों ने उग्रवादियों की विदेशी साम्राज्य विरोधी नीति से उत्साहित होकर उन्हें आवश्यक सहायता दी। परिणाम स्वरूप 1905 से 1919 के बीच राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व मुख्यतः

उग्रवादी नेताओं के हाथ में रहा और उनकी गतिविधियों विदेश शासकों के लिए परेशानी का कारण बनी रहीं। अंग्रेजी सरकार की नीति दमनकारी थी और यह इस नीति का ही परिणाम था कि उग्रवादियों के विचारों से समर्थन पाकर एक ऐसे वर्ग का जन्म हुआ जो अंग्रेजी दासता को उखाड़ फेकने के लिए आतंकवादी गतिविधियों का सहारा लेने लगा। इन तथाकथित आतंकवादियों में अधिकांश युवक थे जिन्हें न अपने परिवार की परवाह थी और न जान की। ये युवक अंग्रेजी शासन को परेशानी में डालने के उद्देश्य से आग्नेय अस्त्रों का प्रयोग करते थे। महात्मा गाँधी ने इस आन्दोलन को अपना समर्थन इस आधार कर देना उचित समझा कि इससे देश में हिन्दू–मुस्लिम एकता को बल मिलेगा।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत की आर्थिक परिस्थितियाँ अत्यधिक दयनीय थी। चारों ओर निर्धनता व्याप्त थी। निरीह जनता पर जमींदारों के अत्याचार बढ़ते ही जा रहे थे। खाद्यानों का उत्पादन आवश्यकता से बहुत कम था। "देश में कई बार अकाल पड़ चुके थे। बंगाल प्रांत में भयानक अकाल में हजारों लोगों को प्राण गवाने पड़े। अंग्रेज सरकार ने इस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं किया, उसके द्वारा उस काल में न तो कृषि उत्पादन बढ़ाने पर जोर दिया गया और ने देश में सर्वत्र व्याप्त बेरोजगारी को दूर करने केलिए कोई कार्य किया गया" ।...5

अंग्रेजी शासकों ने भारत को उस मण्डी के रूप में विकसित किया जहाँ से वे इग्लैण्ड के कारखानों में तैयार माल से पाट दिया गया। इसका दुष्प्रभाव भारत के कुटीर उद्योग–धन्धों एवं विशेषकर हथकरधा उद्योग पर पड़ा। थोड़े ही समय में भारत के कुटीर उद्योग धन्धे मृत प्रायः हो गये। विश्वयुध्द काल में भारत में स्थापित रेल लाइनों तक को उखाड़कर युध्द क्षेत्रों में स्थापित करने के लिए भेज दिया गया। ब्रिटिश शासकों ने केवल उन्हीं क्षेत्रों के विकास पर ध्यान दिया जो उनके लिए सामरिक महत्व के थे। ब्रिटिश शासकों द्वारा भारतीय उद्योगों पर भी विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये गये ताकि भारतीय माल किसी भी प्रकार से इग्लेण्ड के व्यापार को क्षति न पहुँचा सके। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी व्यापार की सुविधा हेतु शुल्क–सूची में भी विभिन्न प्रकार के परिवर्तन किये गये। ब्रिटिश सरकार की साम्राज्यवादी नीतियों के दुष्परिणामस्वरूप भारतवासियों की आर्थिक स्थिति इतनी अधिक दयनीय हो गयी कि 75 प्रतिशत से अधिक देशवासियों को भरपेट

भोजन भी नहीं मिलता था। इन असाधारण परिस्थितियों ने भारतीयों के मन में विदेशी राज्य के प्रति बहुत घृणा भर दी और उन्हें ब्रिटिश सरकार की साम्राज्यवादी नीति के विरूध्द संघर्ष करने की प्रेरणा दी।

उपन्यास में नायक विनायक और उसका दोस्तों को राजनीति पर बहुत रूचि है, इसलिए वे अपने आपसे राजनीति के बारे में बात तो करते रहते हैं,

"हरीश मुच्ची तो यहाँ तक कहता है कि वह अमरीका में भी दिल्ली और बम्बई के कुछ एन.जी.ओ के साथ मिल के भारत तोड़ो अभियान चलाने में लगा हुआ है। कई सारी विदेशी एजेन्सियों से अंधाधुंध पैसा कबाड़ के" ।....6

लोकतंत्र का पौधा, चाहे वह देशी हो या विदेशी, कहीं भी बिना उचित देखभाल के पल्लवित नहीं हो पाया है। लोकतंत्र के मार्ग में अनेको कठिनाइयाँ सामने आती हैं। इन कठिनाइयों से जो देश मुकाबला करने की पर्याप्त सहनशक्ति और क्षमता जुटा सके हैं, वे आज लोकतांत्रिक राज्य के रूप में पल्लवित हो रहे हैं। अन्य जो ऐसा करने में किसी एक या अन्य कारणों से, असफल रहे, वहाँ अन्य ताकतें उभरकर सामने आयी हैं। हम इस बात से सन्तुष्ट हैं कि भारत जैसे देश के लिए, जो अपने नागरिकों को स्वतंत्रता और समानता के अवसर प्रदान करने के लिए कटिबध्द है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं है कि वह लोकतांत्रिक पद्दति को अपनाये। लोकतांत्रिक व्यवस्था सभी को न्याय दिलाने और भारतीय जनसंख्या के समस्त विभिन्न तत्वों के सम्बंधन का आश्वासन देती है। हम व्यक्ति की महत्ता को स्वीकार करते हैं, साथ ही साथ उस समाज के अधिकारों को अक्षुण्ण रखते हैं जिसका वह (व्यक्ति) अंग है। प्रत्येक भारतीय स्वयं में एक इकाई है तथा राष्ट्रीय जीवन का अविभाज्य अंग है। हम सामूहिक प्रयासों तथा उत्पादन के साधनों और सम्पत्ति के उचित वितरण में विश्वास करते हैं। सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक आधार पर हम लोगों के किसी भी अनुभाग के विरूद्ध किसी भी प्रकार के विरूद्ध हैं। अपने लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु हम किसी भी प्रकार के बल प्रयोग के विरुद्ध भी हैं।

हम चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार राष्ट्र निर्माण में अपना योगदान दे और इसी के साथ हम इस बात के लिए भी इच्छुक हैं कि राष्ट्र प्रत्येक को समुचित जीवनस्तर प्रदान करे तथा कम से कम औसत स्तर की आरामदायक सुविधा

प्रदान करने की बात सोचे। इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु लोकतांत्रिक मार्ग है। इसलिए हम इसे अपनाने के लिए कटिबध्द हैं, जो होता है।

लोकतांत्रिक जीवन व्यवस्था अपनाने या इसे सफल बनाने के लिए मानसिक रूप से तैयारी ही पर्याप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त कुछ और भी है। जिसकी आवश्यकता है जो इसकी सफलता की प्रमुख शर्त है। मेरे विचार से वह कुछ यह है कि व्यावहारिक रूप से सभी अपने कर्तव्यों का पालन करें। स्वतंत्रता लोगों को नये अवसर प्रदान करती है, और यह अप्राकृतिक भी नहीं है कि लोग इस स्वसंत्रता के आधार पर अधिकारों की माँग करें या अधिकारों पर जोर दें। "आखिरकार अधिकारों के प्रति जागरूकता ही लोगों को कर्तव्य पालन के लिए प्रेरित करती है तथा इससे लोकतांत्रिक परम्पराओं की रक्षा होती है। इसलिए कभी भी इस तथ्य को न तो भूलना चाहिए कि अधिकार सदैव ही निष्ठापूर्वक निभाये गये कर्तव्य के बाद ही आते हैं" ।....7

विनायक जिस मित्र–मंडली को राष्ट्रीय नहीं बल्कि अंतर्राष्ट्रीय बौध्दिक बिरादरी का सदस्य मानता रहा है अपने को मन ही मन, उसे सचमुच बनाने का, कम–से–कम अपने देश और समाज की सचमुच चिंता करने वाले रचनात्मक बुध्दि लोगों को ही एक जगह जुटाने का सपना तो उसका अभी तक खाली सपना ही न रहा आया है!

रमेश चन्द्रशाह स्पष्टतः समाजवादी व्यवस्था की वकालत करते हैं, और भारतीय जनता को मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं। वर्ग संघर्ष उनका एकमात्र राजनीतिक अस्त्र है जिसके द्वारा जनता समाजवाद की मंजिल तक पहुँच सकते है। विनायक उपन्यास लिखकर शाह अपने उद्देश्य और संकल्प को स्पष्ट कर देते हैं। जबकि इसी दौर के बड़े लेखक या तो अतीतगामी हो जाते हैं या फिर टेढ़े–मेढे रास्ते का चयन कर जनता को भरमाते हैं। वे रहस्यमयी अध्यात्म जगत में अर्न्तमुखी होकर स्वान्तः सुखाय की अनुभूति करने लगते हैं या फिर विकृत मनोविज्ञान और सैक्स प्रधान रचनाएँ करते हैं। संकट के ऐसे विषम दौर में अकेले शाह जी जनता को समाजवादी व्यवस्था के स्वप्न दिखाते है, उस स्वप्न को साकार करने हेतु जागरूक, चेतना सम्पन्न और संघर्षशील बनाते हैं। यदि प्रेमचन्द की रचनाओं को पढ़कर ग्रामीण भारत को समझा जा सकता है तो शाह जी के साहित्य को पढ़कर शहरी मध्यवर्ग और मार्क्सवाद को समझा जा सकता है। शाह जी

शहरी मध्यवर्ग के तो स्टार लेखक हैं। यह है शाह जैसे रचनाकार का विराट कद और बहुआयामी व्यक्तित्व। विडम्बना यह है कि ऐसे राजनीतिक पक्ष में उपन्यास और उसके सशक्त चरित्र दोनों की हिन्दी में अपेक्षा हुई है। राजनीतिक चेतना से लैस इस उपन्यास को शाह के आलोचकों ने इसलिए उपेक्षा की थी कि यह राजनीति प्रेरित रचना है इसमें केवल वैश्विक का प्रचार है और इसमें विचार ही विचार है, और कला है। उनके विचार और व्यवहार में एकरूपता है।

इस उपन्यास में राजनीति के अलावा धर्म और ऐतिहासिक वर्णन भी हम को मिलते हैं। नायक की माँ घर में धर्म की प्रतिक हैं। उनकी वजह से नायक में भी धर्म और ऐतिहासिक प्रभाव पड़ा था। इसलिए उन्होंने कहा है कि :

"नारायण तो पूरे जी–जान से इसमें जुट गया है। तुम स्वामीजी से मिलेगे तो तुम्हारी तबीयत खुश हो जाएगी, धपोलाजी को भी बुला लूँगा। अरे धपोला, जो अपनी रामलीला में विस्वामित्र का रोल करते थे। आए दिन खुदाई में लगे रहते हैं। जाने कितने तो शिलालेख और सिक्के और दान–पत्र वगैरह ढूँढ़ निकाले हैं"।....8

रामलीला वर्णन हमारी ऐतिहासिक पृष्टभूमी हैं। इस तरह ऐतिहासिक कार्यक्रम द्वारा अगले पीढ़ी जो हमारे ऐतिहासीक कहानी को जानते हैं। हिन्दी कथा साहित्य की सामाजिक परम्परा में शाह जी का विराट एवं बहुआयामी व्यक्तित्व है। वे एक बड़े लेखक, क्रान्तिकारी और समाजवादी चिन्तक हैं। उनकी विराटता का मूल स्त्रोत भारतीय समाज है। जिसे उन्होंने अपनी रचनाधर्मिता में सदैव वरीयता दी। उन्होंने युगीन समाज को यथार्थ अभिव्यक्ति प्रदान की। उसे परिवर्तन और विकास की धारा से सम्पृक्त कर गतिमान किया और इस युगान्तकारी कार्य में वे सफल भी रहे। रमेशचन्द शाह जी का सम्पूर्ण रचना–संसार सामाजिक परिवर्तन के लिए समर्पित है। उनका यह परिवर्तन भी सप्रयोजन है, जिसे उन्होंने स्वयं स्वीकार भी किया है। भारतीय जनता की मुक्ति चाहे वह दासता की हो, चाहे सामाजिक रूढियों की हो, चाहे वह आर्थिक विषमताओं की हो, चाहे धार्मिक संकीर्णताओं और सांस्कृतिक विभेदों की हो, लक्षित कर अपनी रचनाधर्मिता का निर्वाह किया। शाहजी ने दृन्दात्मक भौतिकवादी दृष्टि के आधार पर जन–समस्याओं का निराकरण प्रस्तुत किया है, मार्क्सवाद सभी वस्तुओं को परिवर्तनशील मानता है वह किसी चीज को

स्थिर रूप में स्वीकार नहीं करता तथा यह भी कि हमारे इस यथार्थ संसार में मनुष्य का भी स्वतन्त्र अस्तित्व है। स्पष्ट है कि वह वस्तु की संता और वस्तु की परिवर्तनशीलता को स्वीकार करता है। दृन्दात्मक भौतिकवाद के नियम प्रकृति के समान मानव समाज पर भी लागू होते हैं।

मार्क्सवाद की इसी बौध्दिकता, सत्यता और वैज्ञानिकता के कारण शाह जी की उसके प्रति अटूट आस्था रही है। मानवता के प्रति आस्था का यह दर्शन शाहजी के जीवन का दर्शन बना और इसी को आत्मसात कर वे सदैव मानवता के हित चिन्तन में समर्पित रहे और समाजवादी समाज के सृजन में संघर्षरत रहे।

कथाकार प्रेमचंद ने अपने समय और समाज के जिन मुद्दों और समस्याओं पर यथार्थवादी दृष्टि से विचार करते हुए समाज के सम्मुख जो आदर्श प्रस्तुत किए, जो राह दिखाई, उसी राह पर चलकर शाह जी ने सामाजिक आदर्श जिसमें किसान–मजदूर और आम आदमी की सत्ता में भागीदारी हो। शाह जी का काँग्रेस और गाँधीवाद की रणनीति और अन्तर्विरोधों को उजागर कर जनता को साम्यवादी नेतृत्व में वर्ग संघर्ष का आहान करते हैं।

स्त्री–पुरूष सम्बन्धों के सन्दर्भ में शाह जी का नारी स्वतन्त्रता और यौन स्वतन्त्रता संबन्धी विचार अपने समय में सर्वथा नवीन विचार था कि स्त्री का स्वतन्त्र अस्तित्व है और उसका शोषण बन्द होना चाहिए इसी परिपेक्ष्य में शाह नारी जीवन पर विचार कर उसकी पूर्ण स्वतन्त्रता के प्रति अपने विचार व्यक्त करते है। उसे समाज में स्थान दिलाने केलिए मुक्ति संघर्ष में सम्मिलित होने का आह्वान करते हैं। इसी उद्देश्य से उन्होंने शकुन्तला की चरित्र सृष्टि की है। जो नारी स्वतंत्रता की खोज करती है और इस खोज में उसे परम्परागत समाज की तमाम लांछनाएँ, गाली–गलौज, अपमान और उपेक्षाओं का शिकार होना पड़ता है लेकिन शकुन्तला परम्परागत समाज और उसकी थोथी मान्यताओं की किंचित मात्र परवाह नहीं करती। वह प्रेम और सैक्स के विषय में न केवल उदार विचारों की युवती है, वरन् उसके प्रेम में उदारत्तता है, सृष्टि के विकास हेतु प्रेम की आवश्यकता मानवीय जरूरत है। इसलिए वह अपने किसी काम केलिए पछतावा नहीं करती।

शाह जी प्रेम और सैक्स सम्बन्धी मान्यताओं के प्रति भी दृन्दात्मक नजरिया रखते हैं। उनकी दृष्टि में सैक्स सम्बन्धी मान्यताएँ शाश्वत और सनातन नहीं होती। इतिहास इसका गवाह है। आज जो नारी देह का प्रचार प्रदर्शन, और खरीद–फरोख्त हो रही है, क्या वे सामन्ती युगीन मान्यताएँ हैं? दूसरी बात जिस प्रकार अति कामुकता विक्षिप्तता का परिचायक है। सैक्स भी अन्य भौतिक आवश्यकताओं की भांति अनिवार्य है।

5.6 'कथा सनातन' उपन्यास में राजनीति, धर्म और ऐतिहासिक चित्रण

हिन्दी उपन्यासकार रमेशचन्द्र शाह के उपन्यासों में एक है कथा सनातन। युवन सनातन उर्फ सनत का, या अपने स्वप्न की कहानी है कथा सनातन। नायक एक ही पात्र, अपने स्वप्न के माध्यम में सनातन, सनक, सनत्कुमार, सनन्दन ऐसे चार पात्र बना लिये हैं। हर एक पात्र में भी हर एक व्यक्तित्व है। एक ही शरीर में चार इनसान का भाव है। बीच–बीच में उपन्यास पढ़ते समय यह मनोविज्ञानिक उपन्यास ऐसा लगता है। नायक स्वप्न में अपना अतीत और भविष्य के बारे में सोचता है। मनुष्य के पालन, पोषण अपने माता–पिता से ही शुरू होते हैं। हर एक व्यक्ति की खोज सुख की खोज है। मनुष्य का यह चरम–परम हित या स्वार्थ क्या होता है? संसार में इनसान सुख चाहता है। इनसान भी तो यह सुख ही तो चरम–परम स्वार्थ हुआ उसका? मतलब सुख की खोज करना, उसके साधन जुटाना। सुख के साधन जो हैं, वह तो सीमित ही हुए न? मनुष्य का लालच जरूर असीम है? इस के बीच में नायक को संदेह आता है कि मैं कौन हूँ? यह बोध निरंतर है। परंतु हम इसमें कायम नहीं रह पाते? हम हर मूड़, हर राग या दोष के अधीन हो जाते हैं। उसी में सरोवर हो जाते हैं। मगर यह मूड़ तो क्षण–प्रतिक्षण बदलता रहता है। हर क्षण बदलता रहता है। इनसान भोगवाला प्राणी भी हैं। मगर वह क्षण मंष भी अपने भोकतापन को अलग करके देख सकते हैं। जो इन पल–पल परिवर्तित होनेवाली स्थितियों और दृश्यों का सुखी, दुखी, रागी–विरागी, कामी क्रोधी उदास, ऊफुल्ल, शान्त दृ–उप्दिग्न, हँसते–रोते बहुरूपिया भोकतापन का दर्शन है। वे अपने–आप में निर्लिप्त हैं। मैं कौन हूँ? का उत्तर इसलिए यही न हुआ कि मैं यह साक्षी द्रष्टा हूँ, जो इस देह दृमन–प्राण से परे कोई चीज है और वही आत्मा या कह लो जीवात्मा है।

नायक अपने स्वप्न से सोच रहा हैं, वह नहीं जानता उसके साथ यह क्या हो रहा हैं। एक ओर उसका शरीर चेता रहा है आए दिन, दूसरी ओर, परन्तु इस अप्रत्याशित उलट–फेर के बावजूद उसके भीतर यह कौन आ बैठा है, जो इससे तनिक भी अवसादग्रस्त नहीं। उसके भीतर ऊर्जा का एक सर्वथा नया और अलग ही स्त्रोत खुल पड़ा है। ऐसा उत्साह, ऐसी स्फूर्ति तो उसको अपनी युवावस्था के सबसे पागल दिनों में भी नहीं जानी। यह उसका भ्रम तो नहीं, उसके मनमानी युक्ति या कल्पना? ..... उसका चचंल बुध्दि उसको टोकती है। मगर वह टोक टिकती नहीं, दूसरे ही क्षण बिला जाती है। वह उच्चतर ऊर्जा की तरंगों को अपने पोर–पोर में भिजते और रचते हुए अनुभव कर रहा है, वह कोई विचार तो है नहीं, कल्पना भी कैसे होगी, जब वह, उसके संस्पर्श से इतना पुलकित–रोमांचित हो रहा है। इसमें भ्रान्ति कैसी, छलना कैसी? यह अन्य ऐन्द्रिक अनुभव जैसी नहीं, किसी बौध्दिक उत्तेजना जैसी नहीं, किसी जाने, पहजाने ऐन्द्रिक–संवेदन–सेंसेशन जैसी भी नहीं। तब फिर, यह क्या है?

वह अपने स्वप्न में जीवन और प्रेम के बारे में देखता है। इसलिए वहाँ किस–किससे निबटोगे? दोस्त और दुश्मन के बीच फर्क करना आज जितना मुश्किल है, उतना कभी नहीं था। इस भूमंडलीकरण के जमाने में अब "मित्रलाभ" और सुद्दभोद के सारे नियम उलट –पलट गए हैं, विग्रह और "सन्धि" के भी।

नायक, वह अपने नाम पर सोच में पड़ा सनातन नाम थोड़ा अटपटा अवश्य है, पर इतना अटपटा भी नहीं है। चालू नहीं बस। अब यह बात दूसरी है कि नाम के रूप में भी वह सनातन नहीं रह पाया। इस अस्थिरता का भी एक रोचक इतिहास है। उसका असली राशी का नाम शंकर है। भाव अपना–अपना, सोच अपनी–अपनी, विचार अपने–अपने, पर जीवन की सार्थकता (सफलता) तभी जब विचारधारा गो सकारात्मक (पॉजिटिव), क्योंकि सकरात्मकता(पॉजीटिवनस) ही सुखमय, शांतिमय, प्रकाशमय और आनंदमय जीवन का दीपक है।

जीवन बहुआयामी, बहुउद्देशीय, अनमोल और कुछ हद तक रहस्यमय भी है। इसलिए जीवन को पूर्णता से जानना व समझना बहुत ही कठिन है। यह बात उन सभी महान् विभूतियों ने कही है जिन्होंने जीवन–भर तप किया (सत्य बोलना सबसे बड़ा तप है) और

अपने सादा व सरल जीवन से ही मानव जाति की सेवा की व गुणात्मक सीखा या शिक्षा दी।

बल्कि, उन दिनों इन पर आर्यसमाज का भूत इस कदर सवार था कि इनका बस चलता तो अपना "सरनेम" भी बदलकर "आर्य" कर लेते। उन दिनों कई सारे लोग अपने नाम के आगे "आर्य" लगाने लगे थे और आर्य समाज न केवल इस पुनीत कार्य में उनकी मदद कर रहा था, बल्कि खुद आगे बढ़कर उन्हें इसके लिए उकसावा बढ़ावा भी दे रहा था।

पिताजी ने ही समझाया होगा इन्हें, कि

"बेटा, बाह्मण होने के नाते तुम्हारा आर्यत्व तो यूँ वैसे ही असन्दिग्ध ठहरा, तुम्हें भला अपने नाम के पीछे, आर्य लगाने की क्या जरूरत है?"....9

पिताजी तो इनके, यों सनातन को भी सनत्कुमार कहने के पक्ष में बिलकुल नहीं थे। लिहाजा रातोंरात सनातन सनत्कुमार बन गए।

धर्म का प्रभाव इन्हें परिवार में बहुत हैं। उनका पिताजी ने महीने में एक बार कभी–कभी तो दो बार भी, गाँव में सब को भी भगवत गीता को कंठस्थ कर, उसका अर्थ के साथ समझाते हैं। यह प्रभाव आप से आप या स्वयं नायक को भी आता हैं। मगर आज का विज्ञान ज्यादा नम्र है। वह अपनी सीमाएँ पहचानता है। धर्म के क्षेत्र में भी जो सर्वाधिक प्रबुद्ध हैं, वे एक अभूतपूर्व मोहभंग की स्थिति में पा रहे हैं, स्वयं को अपने डॉग्माज को लेकर। पर इससे यह कहाँ साबित होता है कि धर्म की जरूरत ही खत्म हो चुकी है। जो पिटा है विज्ञान से, वह धर्म नहीं, मजहबी मतवाद है, डॅग्मा है। उसका तो निश्चय ही अब कोई भविष्य नहीं है। जो धर्म मनुष्य के आंतरिक स्वातंत्र की ही कद्र नहीं करता, उसे अमान्य करके ही खुद को मनवाता है, वह आंरभदूषित है। उसका लोप अवश्यंभावी है। खुद मनुष्य के अपने साक्षात् अनुभव से सत्यापनीय है। जिंदगी और मौत के बीच में हुए इस जीवन के बारे में वह स्पप्न में देख रहा है। जीवन की घूतक्रिड़ा में अपना हर दाँव हार जाने को अभिशप्त, एक शाश्वत शिशु की भाँति लापरवाह और गैरजिम्मेदार .... घोर दारिद्र और अवमानना के बीचोबीच अपनी धूनी रमाए वह गृहस्थ जोगी, आशा–निराशा के बीच के फर्क को ही मटियामेट कर देने वाला वह असाध्य अकुण्ठ आशावादी, जिसकी

अमानुषिक सहनशीलता ही मानो अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचकर साल में सिर्फ एक–दो बार बीच बाजार में, अचानक विस्फोट कर देती.... ऐसे जीवन की कई विस्फोट के बारे में वह चिन्तन करता हैं।

नायक के स्वप्न में जीवन संबंधी प्रश्नों आता है वह है कि जीवन संबंधी महत्वपूर्ण व सारगर्मित (सार्थक) प्रश्न –

1. मैं कौन हूँ?
2. मैं क्या हूँ? मुझे क्या करना है?

हम सब जानते हैं कि जीवन संघर्षमय प्रक्रिया है। सुख–दुःख जीवन के सिक्के दो पहलू हैं। बिना कष्ट के जीवन नीरस ही होता है। जो शिक्षा, सीख दुखों से मिलते है, वह आनंद सुख से नहीं मिल सकती। विफलता ही सफलता की सीढ़ी है, गंभीर दृ–भाव नम्र विचारधारा, पर दृढ़ इच्छा शक्ति वाले सरदार पटेल करते थे– "काम निःसंदेह पूजा है, लेकिन हसँना ही जिंदगी हैं। उनकी सहनशीलता इतनी थी की देखने वाले दाँतों तले उँगली दबा लें।"....10 इन प्रश्नों का उत्तर जानने और समझने के लिए, पहले हम अपने आपको समझा, फिर संसार में झाँकों, तो कुछ हद तक सफलता मिल सकती है। वैसे बड़े–बड़े योगी भी आज तक इन प्रश्नों के उत्तर पूर्णरूप से नहीं ढूँढ़ पाए हैं और न समझ पाए हैं।

महान राष्ट्रवादी, बलिदानी लाला लाजपत राय ने कहा था जीवो, दीनतारहित होकर जीवो। इन चंद शब्दों में लाला जी ने समस्त जीवन प्रणाली का निचोड़ बता दिया है। अब सब कुछ व्यक्ति विशेष पर निर्भर करता है कि वह अपनी जीवन शैली को कैसे बनाता है। हम सकारात्मकता अपनाओ यानी विचारधारा को विकाररहित बनाओ। फिर सदाचार, सद्भावना, प्रेम भाव कर्मशीलता यानी इनसानियत आपके चरित्र में सूर्य की भाँति चमकती हुई नजर आएगी। ऐसा विश्व के तमाम विद्वानों महर्षियों, महानपुरूषों, महात्माओं, गुरूओं, फकीरों आदि ने कहा है।

यदि मन साफ, हद्य पवित्र है, तो जीवन सार्थक बन सकता है। जीवन की इससे महत्वपूर्ण व पारदर्शी परिभाषा और नहीं है यही जीवन–शैली जो साफ, सादा सरल है, ही सर्वश्रेष्ठ (सर्वोत्तम) कहलाती है। सीख, शिक्षा वहीं जो व्यक्ति अपनी जीवन शैली से दे।

मानव परमपिता परमेश्वर की संतान है जिसे उनकी अनमोल कृति (रचना) कहा जाता है। व्यक्ति में एक अद्‌भुत (विचित्र) तत्व है। जिसे आत्मा कहा जाता है, जो अविनाशी है, क्योंकि यह प्रभु का अंश है। इसकी खोज एक साधारण, सामान्य व्यक्ति केलिए संभव ही नहीं है। साहित्य इसका गवाह है। महान विभूतियों ने मानव को बार–बार सावधान किया है कि कोई बात, तथ्य अंतिम नहीं होता, क्योंकि उस पर हालत व समय अनुसार सोचना जरूरी है। इसी प्रकार कोई रीति–रिवाज भी अंतिम नहीं है। हमें इन महानात्माओं की सीख की ओर ध्यान देना चाहिए। फिर हम स्वयं एक अच्छे रास्ते पर चलकर अपने जीवन को सफल बना सकते हैं।

हमें केवल सकारात्मकता को अपनाना चाहिए, क्योंकि यही रास्ता हमारे जीवन को सही दिशा देने में सहायक है। यही प्रगति या उन्नति व विकास का रास्ता है। हमें गुमराह नहीं होना है। सकारात्मकता ही सुखमय, शांतिमय, प्रकाशमय और आनंदमय जीवन का दीपक है। इसी को स्वर्ग कहा जाता है। स्वर्ग इसी धरती पर है। नकारात्मकता नरक की ओर जाता है जो हमारे लिए बहुत घातक है। यही नरक कहलाता है और हमारी नकारात्मक सोच ही हमें इस नरक में धकेलती या फँसाती है।

इसलिए सावधान रहना और सावधानी से चलना चाहिए ताकि हम बेकार के किसी झँझट में उलझने से बच जाएँ। यही रास्ता सभी महान विद्वानों ने सुझाया है। उपन्यास में भी नायक स्वप्न और अपनी असली जीवन में सफलता की खोज कर रहे हैं। नायक द्वारा उपन्यासकार हर एक व्यक्ति को भी अपने आपको दिखाते हैं।

'कथासनातन' उपन्यास में धर्म

भारतीय सभ्यता और संस्कृति के संदर्भ में धर्म का विशेष महत्व है। यह कहरपाथियों एवं रूढ़िवादियों को सबसे अधिक अपनी तरफ आकर्षित करता है। निरक्षर, साक्षर, गरीब, अमीर, आस्तिक आदि सभी धर्म से प्रभावित हैं। धर्म ने जहाँ देश को जोड़ा है, वहीं इसे तोड़ा भी है। इस देश को श्रेष्ठ बनाने में धर्म ने जहाँ अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। मान्यता है कि धर्म के आगे ईश्वर भी झुक जाते है और इस धर्म के स्वार्थ में कितनों ने प्राणों की बलि दे दी। धर्म के लिए प्राणों की बलि आज भी दी जाती है, परन्तु

जहाँ धर्म का नाम अदर के साथ लिया जाता था वहीं अब यह घृणा का कारण भी रहा है। आज के बदलते परिवेश में इसने भी अपनी पहचान मिटा दी है। सूर, तुलसी, मीरा, कबीर आदि ऐसे धार्मिक नेता थे, जिन्होंने अपनी रचनाओं से धर्म के प्रकाश को और प्रकाशित किया।

उपन्यास में नायक को धर्म का प्रभाव, परिचय अपने पिताजी से मिलता है। नायक के स्वप्न में अचानक एक दूर्घटना का दृश्य आया, उन्होंने सोचा कि मृत्यु, मौत का ताण्डव–नृत्य तो हर पल, हर छिन और हर कहीं चलता आ रहा हैं। इसलिए कहा कि,

तुम्हारे हाथ में क्या है? तुम्हारे हाथ में तो तुम्हारा अपना जीवन भी नहीं है, तुम्हारा अपना मन भी नहीं है"।....11

जीवन एक अलभ्य वरदान है, अखंड सौभाग्य है। इस सबके बावजूद आखिर यह सनातन नाम का मानव जीव ही न है जो अपने समूचे अन्यः कारण से यह विश्वास करना चाहता है कि, धर्म और सम्प्रदाय को शोषण का माध्यम बनाकर जिन महतों, मठाधीशों, पंडितों, मुल्लाओं, पादरियों, जमीन्दारों या पूजीपतियों ने आम लोगों को लूटा है। इस लूट से हम अपना ज्ञान से बचना है। सभी धर्म में मानवता को प्रधानता दी गई है। हमारा धर्म स्वार्थ के बल पर टिका हुआ है। आज हमारे देश में धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर एक से समस्या खड़ी होती जा रही है। सच तो यह है कि मूल स्वरूप ही विकृत हो चुका है और व्यवहारिक रूप में जो भी घटित हो रहा है।

इनसान भगवान की सृष्टि (रचना) उसका जीवन में हर पल भगवान के हाथ में हैं, जीवन में आगे क्या होगा? हमको पता नहीं चलता। सब भगवान की कृपा से शुरू होता है। धर्मोबलंबियों ने नफरत न की थी परन्तु धर्म को जिस ढंग से शोषण का माध्यम बनाकर एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण कर रहे है, उस ढंग से उन्हें नफरत थी। यहाँ किसी भी धर्म को बुरा नहीं मानती थी, मगर उनके प्रचारित होने के ढंग को बुरा समझती है। उन्हें समाज में उच्चवर्ग द्वारा खींची गई गरीब अमीर की लकीर से नफरत थी। हमारे मान्यता यह है कि सभी धर्मों का मूल तत्व जब एक ही है, तब तक सम्प्रदाय के लोग दूसरे सम्प्रदाय को तथा एक वर्ग के व्यक्ति दूसरे वर्ग का शोषण क्यों करते हैं, तथा उन्हें हेय दृष्टि से क्यों देखते हैं? एक धर्म दूसरे पर हावी होता नजर नहीं आया है। सबी

धर्मवाले दोस्ती को भी कुर्बान कर देते हैं। धर्म धारण एक साथ होना चाहिए। हमारे सोये हुए धर्म–ज्ञान की सारी सम्पत्ति लुट जाए तो उसे खबर नहीं होती परन्तु ललकार सुनकर वह सचेत हो जाता है। फिर उसे कोई जीत नहीं सकता। धर्म की स्थिति, सभी के लिए बराबर होनी चाहिए। धर्म गरीब और अमीर में भेद नहीं करता। यह भेद–भाव, ऊँच–नीच, गरीब–अमीर आदि इसी समाज के व्यवस्थापकों का बनाया हुआ है।

जिनके पास पैसा बुध्दि और सम्मान है, वे कभी नहीं चाहेंगे कि जो दलित हैं या जिनके पास पैसा शिक्षा या बुध्दि नहीं है, वे चार पैसा कमाएँ या शिक्षा से अपनी बुध्दि विकसित करें क्योंकि वे जानते हैं कि साधनहीन व्यक्ति ही उनके इशारों पर नाचेगा, वे गलत करें या रही, वह व्यक्ति उसे मानेगा, उन्हें सम्मान देगा और उनके समक्ष हमेशा नतमस्तक रहेगा।

इसलिए धर्म और सम्प्रदाय हमारे समाज में परिवार में मिलेजुले हैं। उपन्यास में भी नायक के परिवार में भी ऐसे ही हैं। बचपन से ही इस तरह धर्म नीति से उनका पालन, पोषण था इसलिए, वह खुद अपना डायरी में ऐसा लिखा है कि :

"अपनी शंकाओं को छिपाना–दबाना खुद अपनी आत्मा के साथ, अर्थात परमात्मा के साथ, विश्वासघात करना है। सम्पूर्ण श्रध्दा से बड़ी भेंट और हो ही क्या सकती है जो यह नर अपने नारायण को अर्पण कर सके? अर्पण की जाने वाली चीज तो वही हो सकती है ना, जो आग में तपाए सोने की तरह शुध्द और पवित्र हो"!....12

उपन्यास में नायक को धर्म का प्रभाव अपनी माँ–बाप से मिला था। इनसान को अपने जीवन को परमात्मा से मिलाना चाहिए, तब उनको सुख मिलता है, लेकिन हर एक व्यक्ति के अन्दर भी परमात्मा है। इसलिए भगवान सब को भी दुख देता हैं, मगर छोडता नहीं। जैसे आग में तपे हुए सोने की तरह, कितना आग में तपा होता है उतना बाहर आते समय सोना चमकता है। वैसे भी कितना दुख, और अकेलेपन का अनुभव करता है, इनसान उतना आगे बढ़ता है अपने जीवन में। यह सब भगवान की कृपा से। लेकिन आजकल भगवान के नाम पर पैसा कमाते हैं। कभी– कभी परलोक का भय भी दिखाते हैं। कभी जाति के नाम पर डर दिखाते हैं तो कभी धर्म से च्यूत करते हैं। नादान और नासमझ इन बहेलियों के जाल में फंसकर सत्य से दूर रहकर अपना सर्वस्व गंवा बैठता

है। शोषित आदमी यह जानने का प्रयास नहीं करते, क्योंकि वे धर्मच्यूत कर रहे हैं। वे कैसे आदमी है कि परलोक के लिए, धर्म सम्प्रदाय को पालन और प्रचार करते हैं। सिर्फ वे यह समझते हैं कि जो चलता है, यह सब अच्छायी और भले के लिए किया गया है।

अपितु वे नहीं समझ सकते हैं कि और नहीं मानते है कि नरक वासी होगा या ईश्वर उसे दण्ड देंगे या समाज उसे अधर्मी कहकर गाँव–समाज से दूर कर देगे, फिर वे कैसे जीवन चलता है, और बाल बच्चों की शादी कैसे होगी। अगर उसने कर्ज लिया है तो उसे क्या, उसकी औलाद तक को मरना होगा, नहीं तो उसे नरक मिलेगा और अगर कहीं वह कर्ज ब्राहमण का हो तो शायद जन्म–जन्मान्तर तक उससे मुक्ति नहीं मिलेगी, यही धारणा है। यह धारणा है हमारा अंत है। हाँ हम इनसान एक तरह सोचते है, अपने आखिर का फैसला भगवान ने देता है।

गले में जनेऊ, तन पर पीताम्बर और सिर तक लेने से कोई धार्मिक नहीं हो जाता। उसे ईश्वर के बारे में समझा जाएगा। स्वार्थ और लोभ के लिए इनसान घंटे अधर्म करते हैं तो हम धर्मात्मा कैसे पालन करें, धर्मात्मा तो उन्हें कहा जायेगा जो निश्चय भगवान को मानते हैं। वे भगवान को आराधना करें या सच्चे हृदय से हितोपासना करें। तभी हम धर्म के निकट जा सकते हैं। सत्य पर विश्वास रखना प्रत्येक हम हर एक इनसान का धर्म है।

दुर्भाग्य की बात है कि पुराने जमाने में हिन्दू साम्प्रदायिकता के सम्बन्ध में या उसके खिलाफ कोई मुसलमान कुछ भी प्रतिक्रिया व्यक्ति करने से हिचकिचाता है और ठीक उसी प्रकार मुस्लिम साम्प्रदायकता के खिलाफ कोई हिन्दू कुछ भी कहने में परहेज करते थे। मगर आज के समाज में धर्म सम्प्रदाय में भी थोड़ा सा बदलाव आ गया। वे दोनों के खिलाफ नहीं, एक ही धरती पर रहने वाले एक ही ईश्वर या खुदा यह नहीं कहता है कि कौन जातियाँ या धर्म मनुष्यों के ही बनाए हुए हैं। अपितु भगवान सब का एक है। उपन्यास, में भी नायक सनातन को भी यह सोच आया था। इसलिए वह अपने सब दोस्तों से भेदभाव के बिना व्यवहार करता है।

'कथासनातन" उपन्यास में राजनीतिक चित्रण

नायक सनातन को देश भक्त अपने पिताजी और शिक्षकों द्वारा मिला था। पिताजी वैसी भी हर दिन किसी एक नेता के जीवन के बारे में उन्हें त्याग और नेताओं के बलिदान के बारे में सरल रूप में बोलते थे। इसलिए नायक का स्वभाव देश प्रेम हो गया। उसके खून में देश भक्ति है। स्वप्न में भी वह अपने दोस्तों से राजनीति और देश के बारे में चर्चा करता है। इसलिए एक दोस्त बोला कि–

"अरे, आखिर कोई ठोस वजह होगी कि राजनीति आज हमारे जीवन के केन्द्र में है। इस वजह को क्यों नहीं समझना चाहते तुम लोग? तुम्ही बताओ इन करोड़ों गूंगों दृ –बहरों की दबी कुचली आकांक्षाओं को पूरी करने केलिए राजनीति के सिवा और उपाय क्या है?"....13

आज का शासन जनता का शासन पुराने राजाओं के शासन काल का नियम अलग था। मगर आज ऐसे उलटा हो रहा है। राजनीति क्षेत्र में दिन पर दिन बदलाव आ रहा है। नेतागण खुद अपने लिए जीवन बिताते हैं। राजनीति क्षेत्र में समाज सेवा, समाज सुधार भाव, देश को आगे ले जाने का प्रयास एक दम कम हो रहा है। हर जगह आतंकवाद का प्रभाव पड़ा है।

मानव समुदाय की हालत में अधिक से अधिक बदलाव आ गया। देश का विकास पहले नेताओं के हाथ में, मतलब कानून का नियम ठीक ढंग से होना चाहिए। सजा में तेज होता तो व्यक्ति सजा से डरता है, गलत काम नहीं करता। मगर कानून में ऐसा नहीं, गलत काम करने से कोई नहीं डरता, हम बचाएँगे ऐसे सोच कर वे दूसरों को परेशान कर देते हैं। इसलिए उनके मार्गदर्शन में एक अलग कुंडों का समाज बन रहा है आज कल। राजनीति दल समस्त देश को बन्धुत्व के सूत्र में संगठित करते हैं तथा प्रत्येक नागरिक के सम्मुख राष्ट्र का चित्र प्रस्तुत करते हैं जो इनके बिना इतिहास में तथा भविष्य में सम्भव नहीं है।

5.7 'आप कहीं नहीं रहते विभूति बाबू' उपन्यास में धर्म और ऐतिहासिक वर्णन

उपन्यासकार रमेशचन्द्र शाह के इस उपन्यास का प्रकाशन सन् 2001 ई में हुआ था। उनके सब उपन्यासों से यह अलग है। क्योंकि यह एक तरह की मनोविज्ञानिक उपन्यास जैसे लग रहा है। कुल कर इसमें बाईस अंक हैं। हर एक अंक के लिए अलग अलग शीर्षक में दिया गया है। अंत में परिशिष्ट तीन हैं। उपन्यास का नायक विभूति बाबू एक विचित्र आदमी है। वह अपना जीवन और दुनिया और जीवन के बारे में सोच में पड़ा था। दुनिया क्या है? जीवन क्या है? यह विचार उसके मन में हमेशा डूब रहा था। अचानक एक दिन वह अपने जीवन और अपने बारे में (Biography) जीवनी लिखना शुरू किया। तब उसके मन में एक प्रश्न आया कि मैं कौन हूँ? ऐसे बहुत सारे प्रश्न उसके मन में है। वह अपने आपको ढूंढ रहा था। एक अलग दुनिया में चला गया था। उसकी दुनिया में वह अकेला है। हर जगह वह मुश्किल से पार करता है। इसलिए कभी–कभी बेहोश हो रहा था। किसी समय में संसार की बात, किसी समय में दूसरे और अपने बारे में तुलना और समानता रूप को देखता है। इसकी सोच में धर्म, राजनीति, समाज, व्यक्तित्व ऐसे सब का विचार है। अपने बचपन का स्मरण भी है। पूर्वजों की याद भी है। वह कभी–कभी किसी से बात भी करता था। उन्हें आदतों में वह प्रहार हो गया था। कभी–कभी वास्तविक जीवन हो रहा है फिर भी अपना स्वप्न और विचारधारा को चले जाता है।

अपना आत्मकहानी लिखने केलिए उसके बराबर निर्णय नहीं आयी कि कहाँ से शुरू करना, बचपन से या स्कूली जीवन से ऐसा सोच–सोच कर वह छोड़ दिया यहाँ से नहीं, यहाँ से नहीं ऐसे एक एक काल या समय को छोड़ दिया था। वर्तमान में उनकी वृध्दावस्था का स्मरण दोहराया गया। यह उसके जीवन में अविस्मरणीय समय हो गया था। विभूति बापू वृध्दवस्था का आस्वादन कर रहा है। ऐसा हर एक घटना भी भूलने के विरूध्द में हैं। सच में वह भूल नहीं सकता था। जीवनी लिखने के लिए विभूति बापू अपने नाम से शुरू करना चाहता था। उसका असली नाम विभूति नारायण है पिता का नाम सूर्य नारायण और दादा भी इसी तरह कोई नारायण थे। विभूति बापू को विभू–विभू कहते थे, शुरू से ही

विभू इस नाम से उसको पुकारना बहुत पसन्द है। विभूति बापू को एक आदत है लिखना, शुरू से वह डायरी लिख कर सब एक बक्स में रक कर ऊपर रहे थे। आत्मकथा लिखने के लिए ये चिट्ठियाँ सब एक बहूत बड़ा हिस्सा है। दर असल में वह अतीत में उस तरह जीना नहीं। वर्तमान भी उसका बंजर हो। लेकिन उम्र भी शायद अभी ऐसी नहीं....। वह अपने को फुरसत को कहाँ देता है। वह किसी को भी नहीं भुलाया–भुलाने का सवाल भी नहीं। इसके आसपास ऐसे ही तीन चार लोग हैं। जो इनको बराबर चिट्ठी लिखते हैं। जिन्हें भी वापस लिखना इनको भी अच्छा लगता है। फिर भी आजकल अकेले का अनुभव करता हैं। जीवनी लिखने में अनेक या बहुत सारे विभूतियोग हैं। यह विभूतियोग सिर्फ इनके जीवन में नहीं मगर रामायण और महाभारत में भी है। यहाँ उन्हें नजर में हमारे इतिहास और पुराण की याद करता है। उनके नस तरंग मथन या धक्का जाता है। वह बहुत नीचा गहरा अपनी सोच में पड़ा था।

विभूति बाबू सिर्फ विभूति बाबू ही नहीं एक लेखक भी है? कोई आदमी लेखक क्यों और कैसे बनता है, यह अपने आप में एक समस्या है। स्वयं जीवन और जगत के साथ, जो आदमी को सात–सात वास्तविकता के धरातल से कल्पना के जगत् में ढेलती हैं। जीवन जैसा है, उसे शर्तों पर स्वीकार करने से रोकती हैं। घर में अपने छोटे भाई का व्यवहार, प्रेम और शिक्षा के बारे में सोचता है। सफल होने के लिए जो गुण चाहिए, वे हममें नहीं हैं तो क्यों नहीं हैं?

व्यक्तियों के विचारों में कुछ न कुछ मौलिकता किसी न किसी भावों में प्रभावित होने पर भी वह मौलिकता बनी यह मौलिकता इनसान के जीवन कर्तव्य है कि वह प्रत्येक व्यक्ति का उच्चतर स्वर हैं। उसकी विचार मौलिकता की रक्षा करें, क्योंकि समाज व्यक्तिगत विचारों की श्रेष्ठता पर अवलंबित है। उपन्यास में विभूति बाबू की जीवन में मनुष्य और मनुष्येतर प्रकृति, जीवन और मृत्यु, उत्सव और विषाद, सुन्दर और वीभत्य सब मानो एक ही विराट सौन्दर्यानुभूति अँग बन गए हैं। इसलिए उसका व्यक्तित्व, उसका अस्तित्व है। विभूति बापू एक विरल और विशिष्ट चरित्र है। उन्हें जीवन में एक स्मरणीय आदमी है पाँडेजी। पाँडेजी एक पुराने मित्र भी है। पाँडेजी दार्शनिक हैं, सचमुच के दार्शनिक। वे दर्शन सिर्फ पढ़ाते नहीं करते हैं। ऐसे, जैसे, द्रष्टा लोग करते होंगे। विभूति अपनी

आत्मकथा लिखने के लिए चौदह शीर्षक में उन्होंने सोचकर लिखा है। हर एक शीर्षक से पता चलता है कि इनका जीवन, मतलब उनके जीवन का घटना और व्यवहार की संबन्ध है इस शीर्षक का वाक्य है। उपन्यास में एक अंश है इन माइ बिगिनिंग इज माइ एण्ड। इतना उम्र होने के बाद भी हम आम आदमी के मन में एक बच्चे के स्वभाव से व्यवहार करते हैं। इसलिए वृध्दावस्था में बच्चों जैसे व्यवहार करते हैं, इसलिए उन्होंने लिखा है कि इन माई बिगिनिंग इज माइ एण्ड है।

संसार में जितनी भिन्नता है, उतने ही प्रकार के हमारे अनुभव भी होते हैं। जितनी वस्तुओं से हम तादात्मय स्थापित कर लेते हैं उतने अनुभव हमें आनंदमय या सुख कर प्रतीत होते हैं। जिन वस्तुओं की ओर हमारी प्रवृत्ति या रीति होती है, जिन पदार्थों को हम से भिन्न समझते हैं, उनसे हमें दुःख होते हैं। उनसे हम निस्वार्थ हैं, उनसे "विरक्त" हो जाते हैं। मानव–जीवन में इस प्रकार व्यापक रूप से काम करते हैं।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रत्येक समय के महान दार्शनिक की महान शिक्षाशास्त्री भी हुए हैं, प्लेटो, सुकरात, लॉक, रूसो, गाँधी, तथा अरविन्द घोष आदि महान दार्शनिकों के उदाहरण ऐसे हैं, जो शिक्षाशास्त्री भी हुए हैं। इन महान दार्शनिकों के उदाहरण इस बात की पुष्टि के लिए प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इन महान दार्शनिकों द्वारा लिखे हुए ग्रन्थ केवल दर्शनशात्र की ही महान कृतियों नहीं रहीं अपितु इनका शिक्षा के क्षेत्र में भी विशेष महत्व है। उक्त सभी दार्शनिकों ने अपने–अपने दर्शन को क्रियात्मक अथवा व्यावहारिक रूप देने के लिए अन्त में शिक्षा का ही सहारा लिया।

एक बार जिसे शांति की प्राप्ति हो जाती है, वह सर्वदा आनंद में आनंद है। डूबता–उतरता रहता है? उसके आनंद में व्यवधान नहीं आ पाता। इस तरह शांति की गति सुख की गति के विपरीत धर्म मुख हैं। इस सामाजिक सुख से तृप्त होकर सुख की विम्नमुखी गति के कारणविषयों के प्रति आकृष्ट हो जाते हैं। इसलिए शाश्वत शांति का मार्ग क्रमशः जटिल होने लगता हैं। सुख की विशेषता है कि यह अस्थायी है। शांति चिरन्तन है, सुख वस्तुपरक है। शांति मन की एक ऐसी अवस्था है विभिन्न मार्गों में इस शाश्वत शांति की इच्छा से पणिडत गण पण्डित्य द्वारा साधक ध्यान द्वारा नित्य आंतरिक

चेष्टा द्वारा आजीवन प्रयत्नरत रहते हैं। तथापि जब तक अभ्यास द्वारा शांति तथा बाधाओं को दूर न किया जाय तब तक शांति लाभ करना अधिक कठिन हैं।

प्रायः हम देखते हैं कि जो लोग मूल वहन स्वरूप कारण को सुख वस्तु पर निर्भर हैं। हटाने में सचेष्ट न होकर ध्यान–धारणा या ज्ञानार्जन में सचेत होते ही वे प्रायः विफल मनोरथ हुआ करते हैं। पहले ही कहा जा चुका है, कि आशा व वासनाएँ उन कारणों में अन्यतम हैं। विषय के प्रति जो आकर्षण है। पति–पत्नी, पुत्र–कन्या, बन्धु–पड़ोसी आदि स्वजनों के प्रति जो आकर्षण है, साधारणतः हम उन्हें आशक्ति कहते हैं। यही आशक्ति चिन्तन शान्ति लाभ में प्रधान बाधक तत्व है। इसके बारे में यथास्थान विषय चर्चा की जाएगी।

विषय–वस्तु आत्मीय–स्वजन, बन्धु–बाँधव, पड़ोसी आदि के प्रति जो आकर्षण अधिक होता है। मनुष्य सबसे अधिक अपने–आपको चाहते हैं। यह निश्चित रूप से सत्य है कि माता का संतान के प्रति जो लगाव है, उसकी अपेक्षा हम अपने आपको अधिक प्यार करते हैं। उतना ही आनंद का परिष्कृत एवं स्थायी रूप हमें मिलता जाता है। शांत और असीम जीवन में अनंत और असीम सत्ता के मिल (Infinite in the finite) इससे अधिक संगत अर्थ क्या हो सकता है?

विभूति बापू अपनी जीवनी में अपने दोस्तीपन या मित्रता के बारे में लिखना चाहते थे। तब भी वह सोचता है कि मैं कौन हूँ? अभी उसकी नजर में यह शब्द या प्रश्न आया कि साधना और जीवन के बीच यह कैसी फाँक है? फिर भी वह उसने का काम नहीं छोडा, यह जीवनी लेखन, सच में उसके जीवन के लाल रंग की कापी है। वह अपने बारे में ऐसे बहुत सारे प्रश्न पूछता है। विभूति बापू अपने जीवन में हमेशा आदर्श आदमी है। यह आदर्श सदा एक–सा नहीं रहता। सभ्यता के साथ उसका भी विकास, फलतः उसके रूप में परिवर्तन होता है। अपने आनंद की पूर्णता केलिए हम अपनी भावना के अनुसार आदर्श (Ideal) को भी पूर्ण बताने और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। उसी पर दृष्टि रखकर हम क्रमशः अपने जीवन को ऊँचा उठाते हैं।

'आप कहीं नहीं रहते विभूति बाबू" उपन्यास में ऐतिहासिक वर्णन

शांति की खोज करने केलिए इनसान को एक धारण का पालन करना चाहिए। वही धारणा है धर्म। शरीर परमात्मा का धारण करता है, इसलिए शरीर की रक्षा प्राथमिक धर्म है। फिर परमात्मा विहीन शरीर मृत है, अतः परोक्ष रूप से परमात्मा ही शरीर को धारण किये हुए हैं। अतः परमात्मा को जानना ही धर्म है। इन दोनों में अंतिम ही प्रधान है। धर्म का तात्पर्य आत्मज्ञान या परमात्मा ज्ञान से ही होता है। इन्हें जानने का पथ या प्रणाली ही धर्म पथ है। यह पथ अत्यन्त फिसलन भरा तथा सर्पिल है। इसलिए दुनिया में साधकों को अत्यन्त सावधानी से पथ पर चलना पड़ता है। हमारे शरीर से ही प्रथम धर्म प्रारंभ होता है। कई लोग परमात्मा को प्राण ही समझते हैं। जिस प्राण के बिना शरीर नहीं रहता, उसे परमात्मा के नाम से ही जाना चाहिए।

उपन्यास में नायक अपने बारे में सोच रहा था, "जन्म लेने वालों की जिस तरह मृत्यु निश्चित है, उसी तरह मरने वालों का पुनर्जन्म भी दृ यह किसने मुझे बताया था? किसने मुझे समझाया था? क्यों मैं गीता समझने लायक था भी उस वक्त?"....14

ऐसे बहुत अधिक प्रश्न हैं उसके मन में हैं। सर्वप्रथम परमात्मा क्या है? यह विचारणीय वस्तु है दृ–परमात्मा साकार है या निराकार? निराकार, वे निराकार होकर भी किस तरह साकार शरीर में ठीक रहते हैं। उनका कोई रूप नहीं है, इसलिए साकार में रहना उनके लिये संभव है। दूसरे अर्थ में निराकर ही साकार हुए किन्तु मूलतः निराकार रहें। यह पृथ्वी तथा समस्त विश्व ब्रहमाण्ड एक अखण्ड चौतन्य सत्ता में विराजमान है। इसी अखण्ड चौतन्य सत्ता को हम परमेश्वर या भगवान कहकर निर्दोषित करते हैं। वे निराकार, निर्णुण तथा निर्लिप्त रहकर भी जीव देह में विद्यमान रहते हैं। जीव देह में यदि निर्लिप्त ही रहें तो फिर हम जीव का सक्रिय रूप कैसे देख पाते है दृ–वह क्या है? जीव का यह सक्रिय रूप परमात्मा का ही लीलामय रूप है। इस लिलामय रूप को ही जीवात्मा कह जाता है। जीवात्मा परमात्मा का लीलामय रूप है। परमात्मा निर्लिप्त है, अब उन्हें लीलामय कहा जा सकता है। वहाँ निराकार भी है, वहाँ साकार है और कहाँ साकार है, वहाँ निराकार भी है। इसलिए परमात्मा के दो रूप एक निर्लिप्त और दूसरा लीलामय। जो

निर्लिप्त है उसे परमात्मा और जो लीलामय है उसे जीवात्मा कहा जा सकता हैं। मगर मूलतः दोनों एक ही हैं। जीवात्मा परमात्मा का अंश होकर भी भगवत् इच्छा से माया के प्रभाव से लीलामय रूप धारण करता है। मनुष्य जो सुख, दुःख, शोक व्याधि, आनन्द, भोग करता है, वह जीवात्मा ही मानव देह में रहकर भोग करता है। परमात्मा अपने लीलामय रूप अर्थात् जीवात्मा का रूप देखकर आनंदित होते हैं।

सारा समुद्र वायु द्वारा उद्वेलित होकर हो उठे, तरंगे ऊपर उठकर खंडित होकर टूट पड़े तभी वह विस्तीर्ण जल राशि का लीलामय रूप होगा। अतः जिसमें उत्थान पतन है, नाना भावों का विकास व हास समाविष्ट है, वही लीलामय है, वही एक समुद्र जब निर्लिप्त, शान्त निश्चल है, तब वह परमात्मा है। जब वायु द्वारा विक्षुब्ध होकर तरंगे की मालाएँ उसकी गोद में पछाड़ खाकर गिरती है, तब वह जीवात्मा स्वरूप है। अतः परमात्मा जीवात्मा एक ही है। मानव विषय वस्तु भोगता हुआ चिरन्तन शांति लाभ नहीं कर पाता, इसका मूल कारण है जीवात्मा सदा परमात्मा के शांति तथा आनंद स्वरूप का परिग्रह करने का अभिलाषी है। अतः जब तक जीवात्मा माया मुक्त होकर परमात्मा की अवस्था या परमात्मा में लीन या उसकी समीपस्थ न हो तब तक चिंतन शांति लाभ दुराशा मात्र है।

महर्षि दयानंद सैध्दान्तिक रूपेण पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं। ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में "पुनर्जन्म विषय" में वेद मन्त्रों के अतिरिक्त वैदिक षड़दर्शनों के सूत्रों को उद्घृत करके पुनर्जन्म की पुष्टि की है। यहाँ पुनर्जन्म विषयक प्रकरण में वे "प्रेत्यभाव को ही पुनर्जन्म मानते हैं। जो उत्पन्न अर्थात् किसी शरीर को धारण करता है, वह मरण अर्थात् शरीर को छोड़के पुनरूत्पन्न दूसरे को अवश्य प्राप्त होता है। इस प्रकार मर के पुनर्जन्म लेने को प्रत्यभाव कहते हैं।"....15

आत्मा जन्म–मरण के क्रम में बंधा हुआ है। जन्म मरण क्या है? किसी एक शरीर का उपादन "जन्म" और उसका परित्याग "मरण" है। अथवा–आत्मा का एक शरीर के साथ संयोग जन्म और उस शरीर के साथ वियोग हो जाना मरण है। जिस शरीर से आत्मा का वियोग हुआ है, वही शरीर आत्मा के फिर आत्मा के फिर कभी प्राप्त होना असम्भव है। इसी कारण प्रेत्य पद के अर्थ में यह रहस्य अन्तर्हित है कि उस शरीर को प्रकृष्टता के साथ इस प्रकार छोड़ दिया जाता है कि फिर उसे पा जाना संभव नहीं। इस प्रकार एक

देह को छोड़कर देहान्तर का उपादन "प्रेत्यभाव" कहलाता है। एक देह को छोड़कर देहान्तर को ग्रहण करने का क्रम लगातार चलता रहता है, इसका कोई आदि या अंत नहीं है। इसी को पुनर्जन्म कहा जाता है। यह जन्म–मरण का क्रम निरन्तर अपवर्ण की प्राप्ति पर्यन्त विभिन्न योनियों में कृतकर्मों के अनुसार चलता रहता है। अपवर्ग की प्राप्ति होने पर जन्म मरण के प्रवाह के निरन्तर्य का उच्छेद हो जाता है। अपवर्ग की दशा में सब प्रकार के दुःखों का अभाव रहता है।

न्यायदर्शन के अनुसार जो मन के लिए का निरूपण पूर्वोक्त प्रकरण में किया है उससे यही निश्चित होता है कि एक साथ ज्ञानों की उत्पत्ति न होना मन का लिंग दृ –चिन्ह लक्ष्य है। यद्यपि स्मृति अनुमान संशय परिभा, स्वप्न, ज्ञान, ऊहा, तर्क, संकल्प तथा सुख दृ–दुःख इच्छा आदि के होने में बाह्य घृणा आदि इन्द्रियों का कोई उनका ग्रहण करने वाला अवश्य होना चाहिए जो कि बाह्येन्द्रियों से भिन्न हो और वह है दृ–मन। क्योंकि जब किसी बाह्येन्द्रियों के विषय का स्मरण नहीं है तब उसका ज्ञान भी नहीं होता है। मन के इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने पर ही ज्ञान होता है। यदि मन कोई पृथक् न होता तो केवल इन्द्रियों से ही ज्ञान होता और एक काल में पाँच इन्द्रियों के विषय का भी ज्ञान हुआ करता, परन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः मन की पृथक सत्ता को मानना असंदिग्ध है। एक समय में एक इन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध होना सम्भव है, क्योंकि वह परिमाण की दृष्टि से अत्यन्त अणु है। उसका अनेक इन्द्रियों से एक साथ संयोग होना सम्भव नहीं। अतः यदि ज्ञान के साधन इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के अवसर पर मन इन्द्रियों संयोग की उपेक्षा कर दी जाय, तो एक काल में अनेक ज्ञान आत्मा को होते रखने चाहिए जो नहीं होते हैं, जिससे मन का अस्तित्व सिध्द होता है।

नास्तिक कहता है कि कर्मों का फल पुरूष के कर्म करने से नहीं प्राप्त होता। कितने ही कर्म निषफल दिखने में आते हैं। इसलिए अनुमान किया जाता है कि कर्मों का फल प्राप्त होना ईश्वर के अधीन है। जिस कर्म का फल ईश्वर देना चाहे, देता है। जिस कर्म का फल देना नहीं चाहता, नहीं देता। इस बात से कर्मफल ईश्वराधीन है। जो कर्म फल ईश्वराधीन हो तो बिना कर्म किये फल क्यों देता? इसलिए जैसा कर्म मनुष्य करता है वैसा ही फल ईश्वर देता है। इससे ईश्वर स्वतंत्र पुरूष को कर्म का फल नहीं दे सकता।

किन्तु जैसा कर्म जीव करता है वैसा ही फल ईश्वर देता है। बिना निमित्त के पदार्थों की उत्पत्ति होती है। जैसा बबूल आदि वृक्षों के सारे तीक्ष्ण अणिवाले देखने में आते हैं। इससे विदित होता है कि जब–जब सृष्टि का आरम्भ होता हैं तब–तब शरीरादि पदार्थ बिना निमित के होते हैं।

इस तरह विभिन्न प्रकार का प्रश्न है नायक के मन में है और एक चिन्ता है कि उनको, यह क्या है कि भाग्यलिपि है। इसलिए वह बोला कि कोई भी मानवजीव वही है तो है, वही बन सकता है जो उसका क्रोमोजोम उसे बनाता है। वही तुम्हारी भाग्यलिपि है, जो तुम्हारे माथे पर नहीं, बल्कि तुम्हारे खून में लिखी हुई है।

इनसान कितने मेहनत करने पर भी उस मेहनत में सफल प्राप्त मिलने के लिए भगवान की कृपा तो चाहिए। मेहनत तो सिर्फ इनसान को है, मगर आखिर सफल तो भगवान के हाथ में है। चिन्ता मन जनित है और विचार चित जनित है। किसी भी देश या समाज में अनुशासन का बड़ा महत्व होता है। अनुशासन की भावना पैदा करने में विद्यालय का स्थान प्रमुख है। परन्तु विद्यालय का अनुशासन देश और काल की दार्शनिक विचारधाराओं पर अवलम्बित होता है। इतिहास विचारधाराओं से परे अनुशासन पर अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखता। विद्यालयों में नही अनुशासन चलता है, जो तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक इतिहास विचारधारा के अनुकूल अपेक्षित होता है। इतिहास जीवन सुरक्षा के लिए सबसे बड़ा लक्ष्य माना जाता है, इस के लिए कठोर सैनिक अनुशासन प्रचलित था। प्राचीन भारत में जीवन का अन्तिम उद्देश्य इतिहास धर्म पर आश्रित था, इसलिए गुरू को महान स्थान प्राप्त था और उसकी आज्ञाओं का पालन करना प्रत्येक विद्यार्थी का परम कर्तव्य था, उनकी अवज्ञा करने की बात कोई सोच भी नहीं सकता था।

उपन्यास में नायक अनुशासन प्रिय पात्र है। इसलिए कहीं भी इनको जगह नहीं मिलती है। वह भी इतिहास का प्रभाव है इन्हीं जीवन में।

5.8 'कम्बखत इस मोड़ पर' उपन्यास में ऐतिहासिक चित्रण

हिन्दी आधुनिककाल में नवीन चिन्तनशील उपन्यासकार रमेशचन्द्रशाह के उपन्यास हैं, कम्बखत इस मोड़ पर है। इन्हें इस उपन्यास में पारिवारिक और स्त्री, पुरूष

सम्बन्ध में ऐसे समाज से जुड़े हुए विषयों में है, लेकिन यह उपन्यास इस से थोडा सा फर्क है बाप और पुत्र के सम्बन्ध में संवाद जैसे उन दोनों के बीच में जुड़े रिश्ते के बारे में है। उपन्यास शुरू से अंत तक पिताजी अपने अनुभवों को पुत्र से बोलते हैं। इसमें कुल पन्द्रह अंक हैं, हर एक अंक में अपने बचपन के स्मरण के बारे में बताते हैं। इस में स्मरण बोलकर उन्होंने पुत्र को जीवन तत्व समझा देते हैं। इस उपन्यास में हम देखने पर एक कहानी जैसे बोल नहीं सकते, मगर यह हमको जीवन तत्व को देता है।

जीवन तत्व को भी वे हर एक छोटी, छोटी घटना द्वारा समझाते हैं। ऐसे एक बार मेले में खोया हुआ बच्चा, बच्चा उँगली की पकड़ छूट गया। वह, बच्चा बिलख रहा है। भीड़ में उसका बिलखना नहीं सुनाई देता दृ–भीड़ को वह दिखता तक नहीं, पिता को भूल ही गया है, बच्चा अपने पास है क्या? नहीं, उन्होंने नहीं भी जाना कब कैसे कहाँ उससे अलग हो गया है। पिताजी और बेटा दोनों को भी मालूम पड़ता था कि इन दोनों के बीच में कितना गहरा प्रेम है। फिर थोडी देर के बाद लड़का मिल गया है।

घर में माँ भी एक अच्छी दोस्त जैसे व्यवहार करती है। शुरू में लड़के का सम्बन्ध बातचीत, खान–पान सब माँ के साथ होता था, वह भी एक समय तक, वह ज्यों–ज्यों बड़ा होता जाता है, त्यों–त्यों वह ज्यादा से ज्यादा जगह घेरती चली जाती है, उसके जीवन में। जब ..... पिता की जगह सिकुड़ती चली जाती है और सिकुड़ते–सिकुड़ते एकदम शिफर हो जाती है। ऐसा क्यूँ होता होगा, ऐसा क्यूँ हुआ उसके जीवन में पिताजी और पुत्र के बीच कोई गाँठ नहीं, कोई कुंठा नहीं, कोई दुराब छ्पान नहीं, कोई व्यक्त या अव्यक्त तनाव नहीं, कुछ नहीं। कुछ भी नहीं। गनीमत है, दोनों दोस्त हैं।

घर की परिस्थिति से कोई परवाह नहीं, माँ ट्यूशन पढ़ाती है। [9 AM to 11 AM] उसके ट्यूशन का पहला शिफ्ट चलता है और फिर शाम को 6 PM to 8 PM तक है। रोज चार घंटे वह अपने लिए जीवन जीती है साथ साथ कुटुंब की कमाई भी है। घर में बच्चों और ट्यूशन में भी वह भगवान, धर्म और कीर्तन के बारे में सिखाती हैं। लेकिन बाप की नजर में माँ उतना बुध्दिवान नहीं, इसलिए वे सोते है कि तुम्हारी माँ तो अंग्रेजी क्या, हिन्दी भी सलीके से नहीं बोल पाती। दो लफज, जुबान से उनके लुढ़के नहीं कि साफ पता चल जाता है, गढ़वाली है। स को स नहीं श ही बोलगी। और फिर भी दुनिया भर

की मास्टरनी बन बैठी है। मेरी तो मास्टरनी, खैर वो जबसे पिताजी की जिन्दगी में दाखिल हुई, तभी से है। इसलिए घर में अपने बच्चों को पढ़ाते की जनमत उन्होंने कभी नहीं उठाई। वह शुरू आत से पिताजी का ही जिम्मा हैं, क्योंकि पिताजी की नजर में माँ पढ़ाने के लिए लायक नहीं है। मगर बेटे साले तो अपनी माँ की ही तारीफ करते हैं।

पिताजी सत्य और न्याय को धर्म के द्वारा समझाते हैं। तीर्थ यात्रा द्वारा उन्होंने हमारे भारत के इतिहास को भी समझाते हैं। शिवानंद की जीवनी और उनके आश्रम उन्हें (पिताजी) ऐसा अनुभव हुआ जैसे असली दुनिया जो अभी तक, उनकेलिए अलभ्य, अदृश्य थी– वह उन्हें पहुँच के भीतर है। वहाँ वह खुद को घुरपैठिया जैसा महसूस करता था। जीवन के बारे में पिताजी समझाते हैं कि आदमी अपने भीतर ही भीतर घुट–घुट के मर जाए। लेकिन हम नहीं मानते कि हम चाहे लिखें न लिखें– अपने चाहे अनचाहे जाने–अनजाने भी हम मन ही मन कितनी सारी बातें लगातर बकते रहते हैं, किन–किन से उलझते निपटते रहते हैं। कितनी कैसी–कैसी हिंसा भावनाएँ हमारे भीतर दिन दृरात उफनती रहती हैं, लावे की तरह उफनती रहती हैं कि नहीं? क्या हम दुनिया से और अपने आपसे भी झगड़ते नहीं रहते दिन–रात? क्या हम इस तरह बदला नहीं लेते रहते दुनिया से अपनी उपेक्षा और अनदेखी का? तब जो हमारे भीतर वैसे भी उबलता रहता है, उसे कागज पर निकाल फेंकने में क्या बुराई है? कागज पर निकाल के ही तो हम साफ–साफ देख और सुन पाते हैं– अपने विचारों को भावों को। क्या यह भी एक तरह का जुलाब ही नहीं है, अपनी आँतों की तरह अपने दिल–दिमाग की भी सफाई करते रहने के लिए?

पिताजी और पुत्र से शायद यही फर्क था। उनमें जो नाटकीय थिएटिकल तत्व था, वह उनसे भी पूरी तरह छूटा नहीं। वे मुर्खोच बनाने में भी सुना बहुत उस्ताद थे। यह जो मुर्खोटा शब्द है, इसे कुछ बेवकूफों ने झूठ, पाखंड और बेईमानी से जोड़ दिया है। मुर्खोट के बिना जीना तो मुश्किल है ही, कुछ सार्थक बनाना–रचना उससे भी ज्यादा मुश्किल है। कोई जोरदार और मजेदार मुर्खोटा नहीं पहन सकता था?

दुनिया में कहीं भी यह अच्छा नहीं समझा जाता–अपनी भावनाओं का खुला प्रदर्शन। हर वक्त दिल को अपनी आस्तीन पर टाँगे रहना–निहायत बेवकूफी है– निरी भावुकता।

दरअसल बुध्दिमान होने की सजा है यह। माता–पिता तो जन्म देने के निमित्त भर होते हैं। असली नाता तो गुरू का ही है, जो साक्षात् परमात्मा का रूप होता है। भगवान जाने, पिताजी के मन में क्या था। पुत्र वह तो इतना ही जानता है कि उन्होंने साफ मना कर दिया। हमेशा पिताजी कहते हैं कि :

"अभी तुम बच्चे हो, इन चीजों में पड़ने की तुम्हारी उम्र नहीं है। खासकर बच्चों का अपने पिता से बहुत तर्क वितर्क करना बड़ों को अच्छा तो नहीं ही लगता।"....16

भगवान की कृपा से छोटा अपने बड़े भाई से भी ज्यादा जहीन और महीन निकल आए। यह सौ फी सदी उसका अपनी लगन और मेहनत का फल है। दर्जा एक से लगा की मैट्रिक बल्कि ईटरमीडियेट तक–फस्ट क्लास फस्ट आते रहता था। सेकंड तो उसने कभी जाना नहीं था। जाहिर है, इसका श्रेय थोड़ा सा उसकी माँ की भी जिद और मेहनता को जाता ही है। पिताजी की भूमिका शुरू से ही गौण रही। ऐसे घर में माता पिता दोनों भी बच्चों की पढ़ायी में ध्यान करते हैं। रोग के समय भी वे बच्चों को प्रोत्साहन देते हैं, रोग कहने को बाहरी कारणों से होता है, मगर असली कारण भीतर होता है, आपके मन में जीवाणु तो निमित्त–भर बन जाते हैं। पिताजी अपने पुत्र को समझाते है कि बेटा ऐसा है कि हम सब अपने–अपने अतीत के बंदी होते हैं। और मन में गहरे गड़े हुए संस्कारों पर किसी का वश नहीं चलता। यह बात युवकों को अपनी युवावस्था में समझ में अभी नहीं आएगी। जब खुद माँ–बाप बनोगे, तब आएगी। या, क्या पता, तब भी न आए। क्योंकि उनके (बच्चों) संस्कार दूसरे हैं, बड़ों जैसे नहीं। उन्होंने अपने पिता से कभी बहस नहीं की। तब भी नहीं, जब उनकी उपस्थिति तक नागवार गुजरने लगी थी। बड़ों के मुँह लगना– यहाँ तक कि उनसे ऊँची आवाज में बोलना तक हमारे यहाँ उन दिनों सरासर बेअदबी समझी जाती थी। मगर यह गर्व की भावना तो बाद में जागती है।

हर जीज अपने समय पर ही पकती है, सृष्टि में हर चीज का अपना समय होता है –दादाजी ने जो कहा था उसका मतलब और क्या था? यही ना, कि सब एक से नहीं होते। हम मनुष्य जीवधारियों की तो बात ही क्या, पेड़–पौधे तक एक नहीं होते। कुछ जल्दी फलने–फूलने लगते हैं, कुछ देर से फलते हैं।

'कम्बखत इस मोड़ पर' उपन्यास में धर्म वर्णन

इस उपन्यास में माताजी और पिताजी अपने बच्चे को जीवन की सभी दिशा का मार्गदर्शन देते हैं। हमारी संस्कृति इतिहास और धर्म द्वारा है। धर्म जीवन में प्रधान है। एक बार माँ–बाप अपने आप से धर्म के बारे में बात करते हैं कि

"एक बात पूँछू। उसने कहा– पूछिए मैं ने कहा बोली हरेक को अपना ध्रम अपनी समझ के मुताबिक पालने का हक है कि नहीं। जरूर है। मैंने कहा– "आगर दूसरों को अपना धर्म पालने में उससे बाधा न पहुँचे तो। ..... तो तुम्हें क्या हक है– वो बोली ...कि तुम जिस चीज से उन विचारों को शांति मिलती है, उसे शोखँल कहके खारिज कर दो– वह भी उन्ही के मुहँ पे।"....17

धर्म जीवन में निष्ठा ही प्रधान अवलम्बन है। निष्ठा के बिना जीवन में कुछ प्राप्त नहीं किया जा सकता। सांसारिक विषयों में भी समृध्दि बिना के नहीं मिल सकती। कोई भी परम वस्तु बिना निष्ठा के पाना संभव नहीं। ईश्वर सेवी के लिए निष्ठा के अलावा क्या कर्तव्य है। हमारी सामान्य धारणा है कि दीक्षा लिये बिना ईश्वर अनुसंधान यथार्थतः हम नहीं कर सकते। यह धारणा मूलतः ठीक भी है। यथार्थ पथ प्रदर्शन के बिना, उनके प्रत्यक्ष सहायता बिना ईश्वर प्राप्ति कभी संभव नहीं। मामूली "अ" , "आ" सीखने के लिए यदि गुरू या शिक्षक की जरूरत पड़ती है, वहाँ इतने दुरूह विषय में किसी पटप्रदर्शन की जरूरत नहीं पड़ेगी, यह कल्पना भी नहीं किया जा सकता। क्या बिना दीक्षा के धर्मजीवन की प्राप्ति असंभव है? दीक्षा बिना भी धर्म लाभ ईश्वर की उपलब्धि की प्राप्ति या कुछ रसास्वादन संभव है, मगर यह दुविधा नहीं है, किन्तु वह क्षणिक मात्र होगा, पानी की बहू के समान, उसका स्थापित्व संभव नहीं है। प्रबल तृष्णा के समय एक बूंद जल प्यास नहीं बुझा सकती, वैसे ही दीक्षाहीन जीवन में अन्तिम काम्य वस्तु नहीं पाई जा सकती। मनुष्य अनन्त शक्तियों का अधिकारी है। हमारे चारों ओर अनेकों ज्वलनशील पदार्थ बिखड़े पड़े हैं, पर उन्हें जलाने केलिए आए की चिन्गारी तो चाहिए ही। गुरूशक्ति उसी अग्नि स्फलिंग या चिन्गारी की भांति कार्य करता है और हमारी अनंत शक्ति को जाग्रत करता है। जंगलों में जो दावानल लगता है उसमें किसी मनुष्य का हाथ नहीं होता, स्वाभाविक रूप से ही आग

लगती है। वहाँ वृक्ष का वृक्ष से संघर्ष होता, उसी घर्षण से ताप की सृष्टि होती और आग लगती है। मरूस्थलों में ऐसे दावानल नहीं होते, वहाँ आग जलने के अन्य कुछ का सहारा लेना पड़ता है। गुरू ऐसे ही दीक्षा के माध्यम से प्रयोजन सिध्द करते हैं।

मनुष्य को अपने जीवन में जो धारणा करना चाहिए वही धर्म है। धर्म दिखावा नहीं, रूढ़ी नहीं, प्रदर्शन नहीं, किसी के प्रति घृणा नहीं, मनुष्य और मनुष्य के बीच भेदभाव नहीं अपितु मनुष्य में मानवीयता के गुणों की विकास शक्ति है, सार्वभौम चेतना का सत्संकल्प है। अपनी सम्पूर्णता में, समग्रता में, यथार्थता में धर्म के टुकड़ों में नहीं बाँटा जा सकता, उसे खण्ड़ों में नहीं तोड़ा जा सकता। धर्म एक सत्य साधना है। संसार के किसी भी मनुष्य को अच्छा मनुष्य बनने के लिए, श्रेष्ठ सामाजिक व्यक्ति बनने के लिए जिन आदर्शों तथा जीवनमूल्यों को अपने जीवन में धारण करना है, अपने आचरण में उतारना है वही धर्म है। भारतवर्ष में दर्शन और चिन्तन के धरातल पर जितनी विशालता, व्यापकता एवं मानवीयता रही है उतनी आचरण के धरातल पर नहीं रही। जब चिन्तन एवं व्यवहार में विरोध उत्पन्न हो गया तो भारतीय समाज की प्रगति एवं विकास धारा भी अवरूध्द हो गयी।

दर्शन के धरातल पर हमारे चिन्तकों ने पर्तिपादित किया कि यह चितना भी स्थावर जंगम संसार है, वह सब एक ही परब्रह्मा के द्वारा आच्छादित है, उन्होंने संसार के सभी प्राणियों को "आत्मा" मानने एवं जानने का उद्घोष किया मगर सामाजिक धरातल पर समाज के सदस्यों को हमने उनके गुणों के आधार पर नहीं अपितु जन्म के आधार पर जातियों, उपजातियों, वाशों, उपनगरों में बाँट दिया तथा इनके बीच ऊँच–नीच की दीवारें खड़ी कर दीं।

उपन्यास में धर्म के द्वारा पिताजी जीवन तत्व को अपने पुत्र को बता देते हैं। धर्म की जगह पर तीर्थ यात्रा और धर्माडंबर ज्यादा चल रहा है। आदिकाल से भी तीर्थयात्रा की आदत है, मगर आधुनिक काल में तीर्थयात्रा में आडंबर ज्यादा हो रहा है। इस वासना का नाम धर्म नहीं हैं। बिना तीर्थयात्रा से भी अपनी जगह में भी भगवान को देख सकते हैं। यह सब बाहरी दुनिया के लिए सिर्फ वासना है। मनुष्य के सारे सुख–दुःखों का मूल कारण यही वासना है।

"गंगा स्थान करने का मुझे सच मानो खयाल तक नहीं आया था। तुम लोग जानते ही हो आज तक कोई तीर्थ वीर्थ नहीं गया। इच्छा ही नहीं जागी कभी कोई मतलब ही नहीं मेरे लिए तीर्थ वीर्थ का"....18

मन में अंह भाव के उदय के साथ ही अनिवार्यतः वासना की सृष्टि होती है। सृष्टि का मूल उद्‌गम है भगवत् इच्छा। इस भगवत् इच्छा के परिणामस्वरूप निर्लिप्त, निराकार ब्रहा लीलामय रूप धारण करने को बाध्य करते हैं। वासना ही मनुष्य के सुख–दुःख का मूल कारण है। वासना से ही आशक्ति की सृष्टि होती है। पुरूषार्थ द्वारा कर्म करवाकर जो कर्मफल प्राप्त होता है उससे वासना की तृप्ति होती है, तब उस वासना की निवृत्ति होती है, किन्तु कर्मफल के द्वारा यह क्रमशः विषयवस्तु पर आसक्त हो जाते है। मानव जीवन वासना न आसक्ति द्वारा सर्वाधिक प्रभावित होता है। किसी निश्चित कर्म द्वारा वासना विशेष की तृष्टि कर्मफल प्राप्त करके हो तो जाती है। परंतु तुरंत आसक्ति जन्म ले लेती है। वासना ही आसक्ति के रूप में रूपांतरित हो जाती है। हम जो बार–बार जन्म ग्रहण करते हैं, सुख–दुख आदि भोगते हैं, वह सब मूलतः वासना और आसक्ति के फलस्वरूप ही होता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन में यदि वासना ही न रहे तो किसी भी कर्म की प्रेरणा नहीं रह जायगी। फलस्वरूप जीवन अचल, गतिहीन हो जाएगा। अब हमारी समस्या यह है कि पारिवारिक व सामाजिक जीवन को आविकृत जीवन को आविकृत रख कर कैसे वासनाओं की निवृत्ति हो सकती है।

कर्म है जीवन, कर्म के लिए बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। वासनाओं के उद्वेलित होते ही कर्म करना पड़ता है। कर्म करने पर कर्म रहेगा ही। कर्म फल प्राप्त होते ही आसक्ति आ जाती है। सामाजिक और पारिवारिक जीवन में जैसे वासना अपरिहार्य है, वैसे ही कर्म और कर्म फल भी। मूल समस्या यह है कि कर्म करके भी कर्मफल लाभ के साथ ही आसक्ति उपस्थित न हो जाए। इस अवस्था के उपाय स्वरूप भगवान ने गीता में "मा फलेषु कदाचन" कहा है। कर्म फल की ओर न देखते हुए, उसकी उपेक्षा करते हुए वासनाओं की तृप्ति कर पाने पर ही मनुष्य को बारबार जन्म–मृत्यु के हाथों से छुटकारा मिलना संभव है। फल के लाभ की आशा से ही कर्म किया जाता है। कर्म फल के प्रति दृष्टि न रहे तो कोई कर्म हो ही नहीं पाता।

इसका एक मात्रा उपाय है– कर्मफल वासना की तृप्ति करने में समर्थ हो या न हो, किसी भी अवस्था में मन को प्रभावित न करे। इसका अर्थ हुआ कर्म के संपादन के पूर्व मन की जो स्थिरता थी, वही स्थिरता कर्म फल प्राप्ति के बाद भी बनी रहे, तब तो कर्म फल की उपेक्षा की जा रही है। मानव के सभी कार्य को अपने सोच और समझ पर निर्भर होते हैं। जीवन में पारदर्शिता न दूरदर्शिता अनमोल न महत्वपूर्ण तत्व है। किसी को अपनी "कार्य दृ विधि की पूर्ण जानकारी नहीं है, वह जीवन में किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो सकता। कार्य दृ विधि का मतलब है– योजना और पालन करना उसे लागू करने यानी चलाने का तरीका है।"....19

तुरन्त आज कल समाज में ऐसा भाव आगया कि कोई काम तुरंत करना है। काफी समय होने पर भी आखिर समय में शुरू करते हैं। पहले योजना करके उसे पालन करने की आदत गायब हो गयी। दूसरी जगह में अलग स्थिति वे कार्य करने के लिए समय नहीं देते, तुरन्त करना ही है कौशल या प्रतिभा मानते हैं। वहाँ योजना का समय समय नहीं। कार्य दृ–विधि में दिखावा सबसे बड़ी रुकावट ही सफलता दिलाने में सहायक है। सेवाभाव को भी अपनी कार्य दृ–विधि में शामिल करके, उचित स्थान देना चाहिए।

5.9 निष्कर्ष

अपनी आँखों के दृष्टिकोण से किसी के चेहरे और सोच, मन को पढ़ना, दिल से किसी का सहायक बनना, सच्चे मन से रहना यह बहुत प्रभावशाली तप ही है। यह एक कला नहीं, मगर ह्रदय की पवित्रता की आवश्यकता। दूसरों की समस्याओं को ध्यान से सुनना और उन्हें दूर करने यानी हल करने की भी पूरी पूरी कोशिश करनी चाहिए। सेवा से व्यक्ति व मानसिक संतुलन बना रहता है। वास्तव में मानव जन्म सेवा केलिए ही मिलता है और यही जन्मदाता की असली भावना है। यही विचार महान संतों के हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. धर्माःपुण्ययम न्याय स्वभावाचार सोमपाः
2. धर्माविस्ध्दों भूतेषु कामोस्मि भरतर्षभ।1991।
3. तैयारी जीत की – पृ.सं : 85 – आर. सी. मजूमदार दृ–हिस्टी ऑफ फ्रीडम मूवमेन्ट ऑफ इण्डिया, भाग 2
4. आप भी सफल हो सकते हैं, पृ.सं : 442 –जोगिंदर सिंह, ब्रिटिशपैरामाउण्टसी एंड इण्डियनरिस्पान्स
5. हिन्दूओं का व्रत और त्योहार – पृ.सं : 70 – के. ए. पन्निकर दृ–दी फाउन्डेशन ऑफ न्यू इण्डिया
6. विनायक – रमेशचन्द्र शाह पृ.सं : 54
7. प्रकाश विभाग, भारत सरकार दृ–स्पीचेज आफ राजेन्द्र प्रसाद, पृ.सं : 31,32
8. विनायक – रमेशचन्द्र शाह – पृ.सं : 103
9. कथासनातन – रमेशचन्द्र शाह – पृ.सं : 54,
10. जीवन नागरी – आबिद सुरती – पृ.सं : 49
11. कथासनातन – रमेशचन्द्र शाह – पृ.सं : 86
12. सफलता के रहस्य, स्वेट मार्डोन, गंगोत्री – पृ.सं : 36
13. कथासनातन – रमेशचन्द्र शाह – पृ.सं : 112
14. आप कहीं नहीं रहते विभूति बाबू – रमेशचन्द्र शाह – पृ.सं : 12
15. सूचना : एक अधिकार – नीलू झा, कृष्ण गोपाल – पृ.सं : 43
16. आप कहीं नहीं रहते विभूति बाबू – रमेशचन्द्र शाह – पृ.सं : 25
17. कम्खत इस मोड़ पर – रमेशचन्द्र शाह
18. युगवाणी – डॉ.शैलेश कुमार
19. अपराध समस्या और समाधान – रूपसिंह चंदेल